बी०ए० (प्रतिष्ठा), तृतीय खण्ड

हिन्दी (प्रतिष्ठा)-पत्र-VII

विषय-सूची

क्रम सं०	पाठ का नाम	इकाई सं०	पृष्ठ सं०
1.	काव्य-लक्षण	1	2
2.	काव्य-हेतु	2	6
3.	काव्य-प्रयोजन	3	12
4.	काव्य-भेद	4	17
5.	शब्द-शक्ति	5	27
6.	लक्षणा	5A	35
7.	व्यञ्जना	5B	41
8.	काव्य-गुण	6	49
9.	काव्य-दोष का सामान्य परिचय	7	53
10.	रस का सामान्य परिचय	8	70
11.	काव्य-रीति	9	86
12.	ध्वनि का सामान्य परिचय	10	92
13.	वक्रोक्ति सामान्य परिचय	11	106
14.	अलङ्कार	12	121
15.	छन्द	13	132
16.	कला	14	140
17.	साहित्य	15	145
18.	अभ्यासार्थ प्रश्न	16	162

काव्य-लक्षण

पाठ-संरचना

1.1.1 आचार्य मम्मट का काव्य-लक्षण
लक्षण का विश्लेषण
शब्दार्थौ
अदोषौ
सगुणौ
अनलङ्कृती पुनःक्वापि
1.1.2 भामह का काव्य-लक्षण
लक्षण का विश्लेषण
1.1.3 आनन्दवर्धन, विश्वनाथ एवं जगन्नाथ-निर्दिष्ट काव्य-लक्षण
आनन्दवर्धन के काव्य-लक्षण का विश्लेषण
विश्वनाथ के काव्य-लक्षण का विश्लेषण
जगन्नाथ के काव्य-लक्षण का विश्लेषण
पाश्चात्य विद्वानों के काव्य-लक्षण :
वर्ड्सवर्थ, कॉलरिज, शेली, आल्फ्रेड लायल आदि
परवर्ती आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का काव्य-लक्षण

काव्य इतना व्यापक एवं विलक्षण विषय है कि इसे किसी परिभाषा में सीमित नहीं किया जा सकता। फिर भी, भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने विभिन्न दृष्टियों से इसके अनेक 'लक्षण' बताए हैं।

जिन भारतीय काव्यशास्त्रियों ने काव्य की परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं, उनमें आचार्य मम्मट, आचार्य भामह, आचार्य वामन, आचार्य आनन्दवर्धन, आचार्य कुन्तक, आचार्य विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आदि प्रमुख हैं।

इसी प्रकार, पाश्चात्य विद्वानों में अरस्तू, कॉलरिज, वर्ड्सवर्थ, शेली, रस्किन आदि ने काव्य के लक्षण को निर्धारित करने का प्रयास किया है। आर्नल्ड-जैसे कुछ और पाश्चात्य विचारक हैं, जिन्होंने काव्य की परिभाषाएँ दी हैं। परन्तु, उनके वे मत काव्य-लक्षण के निकट न होकर, काव्य के प्रयोजन से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं। यहाँ कुछ प्रमुख काव्य-लक्षणों पर विचार करना ही अभीष्ट है।

1.1.1 आचार्य मम्मट का काव्य-लक्षण

शीर्षस्थ काव्यशास्त्री आचार्य मम्मट के अनुसार शब्द एवं अर्थ के उस सम्मिलित रूप को काव्य कहते हैं, जो दोषों से रहित तथा गुणों से युक्त और अलङ्कार से सम्पृक्त अथवा असम्पृक्त रहता है :

'तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।' —**काव्यप्रकाश 1.4**

लक्षण का विश्लेषण :

मम्मट-निर्दिष्ट उपर्युक्त काव्य लक्षण विश्लेषण की अपेक्षा रखता है। इसमें निम्नांकित बिन्दु विशेष रूप से व्याख्येय हैं :

1. शब्दार्थौ :

शब्द और अर्थ की अभिन्नता प्रसिद्ध है। कालिदास ने वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये। जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।।' (रघुवंश, 1.1) लिखकर इसे पहले ही अकाट्य सिद्ध कर दिया था। यद्यपि आचार्य दण्डी, पण्डितराज जगन्नाथ, महिमभट्ट आदि ने शब्द को ही अधिक महत्त्व प्रदान किया है, तथापि इससे मम्मट का लक्षण प्रभावित नहीं होता। मम्मट न तो केवल शब्द की चर्चा करते हैं और न केवल अर्थ की। 'शब्दार्थौ' से उनका अभिप्राय शब्द और अर्थ की अभिन्नता से है, जो सर्वथा उपयुक्त है। वस्तुतः शब्द और अर्थ के उचित सम्बन्ध से ही काव्यत्व प्रकट हो पाता है। 'शब्दार्थौ' के पहले 'तत्' एकवचन का प्रयोग किया गया है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि मम्मट शब्द और अर्थ को अलग-अलग न मानकर दोनों को एक ही इकाई मानते हैं। इसलिए, एकवचन 'तत्' प्रयुक्त है। यही मत उपयुक्त भी है।

2. अदोषौ :

'अदोषौ' से मम्मट का तात्पर्य है : काव्य को शब्द-दोष और रसदोष से मुक्त रखना चाहिए। ऐसा नहीं होने से अर्थ की व्यंजना अथवा रसानुभूति में व्यवधान उपस्थित हो जाता है।

पण्डित विश्वनाथ-प्रभृति विद्वानों ने मम्मट के 'अदोषौ' पद की सार्थकता नहीं स्वीकार की थी। परन्तु, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि जो तत्त्व रसानुभूति में बाधा उत्पन्न करे, वह निश्चित रूप से दोष है और उससे काव्य का स्वरूप विकृत हो जाएगा। अतएव, मम्मट की मान्यता उचित जँचती है।

3. सगुणौ :

मम्मट ने 'सगुणौ' पद का प्रयोग गुण और रस के नित्य सम्बन्ध को ध्यान में रखकर किया है। गुण के अनुरूप ही रस-व्यंजना होती है। जैसे, काव्य में जहाँ माधुर्य गुण है, वहाँ शृंगार रस की व्यंजना सुनिश्चित है। इसी प्रकार, ओजगुण से वीर रस की अनुभूति होती है और प्रसाद गुण से शान्त रस की। गुण और रस की सम्यक् स्थिति नहीं रहने से 'काव्य' कहने का औचित्य ही क्या रह जाएगा ?

आचार्य विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ ने मम्मट-प्रयुक्त 'सगुणौ' पद को भी निरर्थक ही माना है। परन्तु, मम्मट ने बहुत सोच-समझकर 'सगुणौ' का प्रयोग किया है और उससे गुण-रस की एकरूपता द्योतित होती है।

4. अनलङ्कृती पुनःक्वापि :

चूँकि ध्वनिवादी-रसवादी होते हुए भी मम्मट मूलतः समन्वयवादी आचार्य थे, इसलिए काव्य में अलङ्कार के उचित प्रयोग का उन्होंने समर्थन तो किया, पर उसे अनिवार्य नहीं माना।

'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' का अभिप्राय स्पष्ट है कि यदि काव्य में अलङ्कार न भी हो, तो उससे काव्य का महत्त्व घट नहीं जाता। कारण यह कि काव्य के लिए अलङ्कार शोभावर्धक अवश्यक है, पर वह गुण-रस की भाँति उसका प्राणतत्त्व नहीं है।

यद्यपि अलंकारवादी आचार्यों– भामह, जयदेव आदि ने मम्मट की इस स्थापना का खण्डन किया था,

तथापि मम्मट का मत निश्चित रूप से विवेकसम्मत है। काव्य में उपयुक्त अलंकार रहे, तो बहुत अच्छा है और यदि न भी रहे, तो उससे काव्य का कुछ बिगड़ नहीं जाता।

इस प्रकार, व्यापक दृष्टिकोण रखने के कारण मम्मट-प्रतिपादित काव्य-लक्षण आज भी बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

1.1.2 भामह का काव्य-लक्षण

आचार्य भामह ने काव्य को इस प्रकार परिभाषित किया है :

'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।' —**काव्यालंङ्कार, 1.16**

अर्थात, शब्द और अर्थ के सम्मिलित रूप को काव्य कहते हैं।

लक्षण का विश्लेषण :

उल्लेख है कि भामह के पूर्व संभवतः काव्यशास्त्रियों का एक ऐसा मार्ग था, जो काव्य में शब्द को ही महत्त्वपूर्ण मानता था। इसी से काव्य को 'सौशब्ध' के नाम से भी अभिहित किया गया था। परन्तु, आचार्य भामह ने इस मत का समर्थन नहीं किया। उनके अनुसार काव्य में 'शब्द' का महत्त्व भी अवश्य होता है, पर उससे अधिक महत्त्वपूर्ण 'अर्थ' होता है। अस्तु, उन्होंने काव्य का लक्षण बताया : 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।'

आचार्य रुद्रट ने भामह के लक्षण को ही दुहराया– 'शब्दार्थौ काव्यम्।'–काव्यालंकार, 2.1

वामन (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति) ने शब्द, अर्थ, गुण, अलंकारादि से युक्त रचना को काव्य की संज्ञा प्रदान की।

वाग्भट और हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' नाम से ही अलग-अलग काव्यशास्त्रविषयक ग्रंथों की रचना की और प्रकारान्तर से मम्मट के काव्य-लक्षण का ही अनुसरण किया।

1.1.3 आनन्दवर्धन, विश्वनाथ एवं जगन्नाथ-निर्दिष्ट काव्य-लक्षण

आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्य-लक्षण में शब्द और अर्थ के समन्वित रूप के साथ-साथ भावक को आनन्द प्रदान करने की शर्त ज़ोड़कर मौलिकता का परिचय दिया :

'सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्।'

– ध्वन्यालोक, 1.1(वृत्ति)

आचार्य विश्वनाथ का प्रसिद्ध काव्य-लक्षण है :

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।'

– साहित्यदर्पण, 1.3

काव्य का अन्तम वैशिष्ट्य उसका रसात्मक होना ही है। शब्द और अर्थ का समन्वय तो अन्यत्र भी हो सकता है, पर रस की व्यंजना केवल साहित्य में संभव है। वैसे आचार्यों ने 'अर्थ' को व्यापक रूप में विश्लेषित किया है, जिसमें रस का भी सन्निवेश हो जाता है। आर्थी व्यंजना रसोद्भावना के कारण ही अपनी सर्वोत्कृष्टता सिद्ध कर पाती है। फिर भी, आचार्य विश्वनाथ ने बड़ी स्पष्टता से अपने मत का प्रतिपादन किया कि रस के कारण ही कोई रचना 'काव्य' कहलाने का गौरव प्राप्त करती है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य का लक्षण इस प्रकार प्रस्तुत किया है :

'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।

– रसगंगाधर, पृ० 2

पण्डित जगन्नाथ का यह काव्य-लक्षण सम्यक् विश्लेषण की अपेक्षा रखता है, क्योंकि प्रमादवश कुछ विद्वानों ने इन्हें शब्दवादी मान लिया है। इनके इस लक्षण में तीन बातें ध्यातव्य हैं :

1. सुष्ठु सार्थक शब्द
2. मनोमुग्धकर अर्थ, जिसमें स्वाभाविक रूप में–
3. रसानुभूति की क्षमता विद्यमान रहती है।

पं० जगन्नाथ ने शब्द और अर्थ के साथ 'रमणीयता' की चर्चा कर निश्चय ही रस-व्यंजना की ओर संकेत किया है। रमणीयता से तात्पर्य है विलक्षणता और विलक्षणता के कारण ही रस को अलौकिक कहा जाता है।

आचार्य भरत (नाट्यशास्त्र) ने नाटक का जो लक्षण निर्दिष्ट किया है, वह काव्य के लिए भी बहुत उपयुक्त है। जैसे– मृदुललितपदाढ्यं गूढ़शब्दार्थहीनं ..... बहुरसकृतमार्ग, आदि।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मत-वैभिन्न्य रहने पर भी भारतीय आचार्यों द्वारा प्रस्तुत काव्य-लक्षण अत्युत्कृष्ट है।

पाश्चात्य कवि और समीक्षकों ने भी काव्य का सुन्दर लक्षण प्रस्तुत किया है। वर्ड्सवर्थ के अनुसार 'उत्कट भावना का सहजोद्रेक काव्य है : 'Poetry is the spontaneous ovenflow of powerful feelings.' आचार्य वामन की भाँति कॉलरिज ने भी काव्य को परिभाषित करते हुए लिखा है–'The best words in the best order'. अर्थात् उत्तम शब्दों की उत्तम रचना ही काव्य है।

महाकवि शैली के विचार से 'श्रेष्ठ और उत्तमोत्तम हृदयों के आत्यन्तिक रमणीय क्षणों की अभिव्यंजना ही काव्य हैं– 'The best and happiest moments of the best and happiest minds.'

इसी प्रकार, आलफ्रेड लायल ने काव्य का लक्षण दिया है : 'Poetry is the most intenese expression of the dominant emotions and the higher ideas of the age.' अर्थात्, काव्य किसी युग के प्रधान विचारों या भावों एवं उच्चादर्शों को प्रभावक रूप में अभिव्यंजित करता है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की मान्यता है कि 'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रसदशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति को साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती आयी है, उसे कविता कहते हैं।'

सचमुच, काव्य का कोई एक लक्षण बता पाना कठिन है। हर लक्षण का अपना-अपना वैशिष्ट्य है। काव्य निश्चय ही रसात्मक होता है और वह मानव-जीवन को सफल-सार्थक बनाने का का अप्रतिम साधन है।

◆◆◆

काव्य-हेतु

पाठ-संरचना

2.1.1 काव्य-हेतु से अभिप्राय
2.1.2 काव्य-हेतुओं का निर्देश
प्रतिभा
व्युत्पत्ति
अभ्यास
प्रतिभा : परिभाषा और स्वरूप
व्युत्पत्ति : परिभाषा और स्वरूप
अभ्यास : परिभाषा और स्वरूप
2.1.3 प्रतिभा के भेद
सहजा
उत्पाद्या
कारयित्री
भावयित्री
2.1.4 व्युत्पत्ति-विश्लेषण
2.1.5 अभ्यास विश्लेषण

2.1.1 काव्य-हेतु से क्या अभिप्राय है ?

काव्य-रचना के प्रेरक तत्त्व अर्थात् काव्य-निर्मित के कारण को काव्य-हेतु कहा जाता है। इसलिए, कुछ विद्वान् काव्य-हेतु के स्थान पर 'काव्य-कारण' नाम से ही इस विषय का विवेचन-विश्लेषण करते हैं।

काव्य का हेतु क्या है ? इस सम्बन्ध में अनेक काव्यशास्त्रियों– भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, कुन्तकः, मम्मट, जगन्नाथ, वाग्भट, आनन्दवर्धन आदि ने विस्तारपूर्वक विचार किया है।

2.1.2 काव्य-हेतुओं का निर्देश

काव्यशास्त्रियों ने काव्य के तीन हेतु माने हैं :

1. प्रतिभा
2. व्युत्पत्ति और
3. अभ्यास

1. प्रतिभा : परिभाषा और स्वरूप

प्रतिभा को सभी आचार्यों ने काव्य का मूल हेतु माना है। यह काव्य-सृष्टि की प्रधान शक्ति होती है। इसलिए, प्रतिभा को 'शक्ति' के नाम से भी अभिहित किया गया है। इसके अभाव में की गई काव्य-रचना उत्कृष्ट नहीं हो पाती। आचार्य मम्ट ने काव्य-निर्माण के लिए कवि में प्रतिभा का होना अनिवार्य माना है :

'शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः यां विना
काव्यं न प्रसरेत्, प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्।।'

–काव्यप्रकाश, 1.3 की वृत्ति।

अर्थात् प्रतिभा (शक्ति) जन्मजात संस्कार के रूप में विद्यमान रहती है। इसके बिना काव्य का निर्माण असम्भव है। यदि अन्य साधन से उसकी रचना हो भी जाए, तो उसे निश्चित रूप से उपहासास्पद ही समझा जाएगा।

अन्य प्रमुख काव्यशास्त्री–भामह, वामन, दण्डी, रुद्रट, राजशेखर, जगन्नाथ, वाग्भट, आनन्दवर्धन आदि भी प्रतिभा की ही प्रधानता स्वीकार करते हैं।

आचार्य भामह की धारणा है कि जो प्रतिभाशाली नहीं है, वह काव्य की रचना कर ही नहीं सकता :

'काव्यं तू जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः।'

–काव्य लंकार, 1.5

आचार्य राजशेखर केवल प्रतिभा को काव्य का हेतु मानते हैं :

'सा 'शक्तिः) केवल काव्ये हेतु रिति यायावरीयः।'

–काव्यमीमांसा, 6.11

पण्डितराज जगन्नाथ भी सिर्फ प्रतिभा को काव्य का सही कारण बताते हैं :

'तस्य च कारणं कविगता केवला प्रतिभा।'

–रसगंगाधर, पृ० 8

पण्डित वाग्भट प्रतिभा को छोड़कर और किसी तत्त्व को काव्य के कारण के रूप में स्वीकार नहीं करते–

'प्रतिभैव च कवीनां काव्यकरणकारणम्।'

–अलंकारतिलक पृ० 2

वस्तुतः, प्रतिभा बहुत दुर्लभ होती है। कहते हैं, मनुष्य-जन्म प्राप्त होना ही दुर्लभ है। फिर, मनुष्य होकर भी विद्या की प्राप्ति अत्यन्त श्रम-साध्य है। यदि विद्या सीख भी ली जाए, तो काव्य-निर्माण बहुत दुष्कर होता है और सबसे बढ़कर प्रतिभा तो दुर्लभ में भी दुर्लभ ही हुआ करती है :

'नरत्वं दुर्लभं तत्र विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा।।'

–अग्निपुराण, 3.37.3

निस्सन्देह, प्रतिभा ही श्रेष्ठ काव्य का प्रधान कारण होती है। इसे आनन-फानन में प्राप्त कर लेना सम्भव नहीं। आचार्य कुन्तक के अनुसार, प्रतिभा प्राक्तन एवं अद्यतन दोनों ही प्रकार के संस्कारों से प्राप्त और विकसित होती है :

'प्राक्नाद्यतन संस्कारपरिपाक पौढ़ा काचिदेव कवित्वशक्तिः।'

—वक्रोक्तिजीवित, पृ० 46

आचार्य वामन की मान्यता है कि सही प्रतिभा सहजा अर्थात् नैसर्गिक होती है और वह जन्म-जन्मान्तर के संस्कार से प्राप्त हुआ करती है :

'जन्मान्तरसंस्कारापेक्षिणी सहजा'।

—काव्यालंकारसूत्र, 1.3.16

इसी प्रकार, 'काव्यादर्श' में आचार्य दण्डी ने भी प्रतिभा को सहज ही माना है, उत्पाघा नहीं। आचार्य अभिनवगुप्त की भी यही धारणा है कि प्रतिभा अर्थात् शक्ति बहुत विलक्षण होती है— कवित्व का बीजरूप हुआ करती है और वह जन्म-जन्मान्तर संस्कार से ही सुलभ हो पाती है :

'कवित्वबीजं जन्मान्तर संस्कारगतविशेषः कश्चित्।

—भरतनाट्यशास्त्र की अभिनवभारती टीका, पृ० 346

यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाए, तो कवि-कर्म करने अर्थात् काव्य-रचना करने की प्रवृत्ति ही एक प्रकार की विशेष प्रज्ञा से जागरित होती है। प्रज्ञा के विना नई उद्भावना करने की क्षमता नहीं आ सकती। कल्पना करने के लिए भी वह नितान्त अपेक्षित है। इसी से आचार्य भट्टतौत ने प्रतिभा का स्वरूप-विश्लेषण करते समय उसे प्रज्ञा के माध्यम से ही स्पष्ट किया था :

'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।'

—काव्यकौतुक— 'काव्यानुशासन' में हेमचन्द्र द्वारा संगृहीत

ध्वन्यालोक (1.6) में आचार्य आनन्दवर्धन ने लोकोत्तर 'प्रतिभा विशेषम्' की चर्चा की है। सचमुच, इसी प्रतिभा-विशेष के कारण कवि-कर्म की श्रेष्ठता सिद्ध होती है— काव्यकार भावकों को रसमग्न करने में सफल हो जाते हैं; अन्यथा (इसके अभाव में) पाठक काव्यकार की भर्त्सना-ही-भर्त्सना करते हैं।

आचार्य महिमभट्ट (व्यक्ति विवेक, पृष्ठ 108) के अनुसार प्रतिभा 'भगवान् की तीसरी आँख है, जो अत्यंत विलक्षण होती है। उसके प्राप्त होने पर ही कवि भी 'त्रिकालदर्शी' हो जाता है और शब्द-अर्थ पर पूर्णाधिकार हो जाने से वह रस-व्यंजना में निपुणता प्राप्त कर लेता है।

2.1.3 प्रतिभा के भेद

काव्यशास्त्रियों-विशेषकर आचार्य रूद्रट, आचार्य हेमचन्द्र और आचार्य राजशेखर ने विविध आधारों पर प्रतिभा के अनेक भेदों का विवेचन किया है।

आचार्य रूद्रट (काव्यालंकार, 1.11.6 ई०) के अनुसार प्रतिभा के दो भेद होते हैं :

1. सहजा
2. उत्पाद्या

1. सहजा प्रतिभा अत्यन्त विलक्षण होती है। इसे ही नैसर्गिक प्रतिभा कहते हैं। यह जन्मजन्मान्तर के संस्कारों से प्राप्त होती है।

2. उत्पाद्या प्रतिभा वह होती है, जो अर्जित की जाती है। विशेष प्रकार की शिक्षा, परिश्रम, सान्निध्य, अनुभव आदि से भी व्यक्ति में एक प्रकार की प्रतिभा अवश्य आ जाती है, पर स्वाभाविक प्रतिभा की भाँति उसमें विलक्षणता नहीं दिखाई पड़ती। श्रेष्ठ काव्य-रचना सहजा प्रतिभा से ही संभव है।

आचार्य हेमचन्द्र (काव्यानुशासन, पृ० 4-5) प्रतिभा के दो भेद मानते हैं : 1. उत्पाद्या और 2. औपाधिकी। इनमें उत्पाद्या प्रतिभा तो अर्जित करने वाली होती है और औपाधिकी सहजाकी भाँति ही स्वतः विद्यमान रहती है।

प्रतिभा-भेद-विवेचन के लिए सबसे प्रसिद्ध आचार्य माने जाते हैं राजशेखर। उन्होंने प्रतिभा और उसके भेदों पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। उनके विवेचन में मौलिकता है।

आचार्य राजशेखर (काव्य मीमांसा, पृ० 10) के अनुसार प्रतिभा के दो प्रमुख भेद हैं :

1. कारयित्री।

2. भावयित्री।

1. कारयित्री प्रतिभा के कारण ही कवि सुन्दर और उत्कृष्ट काव्य-रचना कर पाने में समर्थ हो जाता है। वस्तुतः, बिना कारयित्री के कवि-कर्म निघ माना जाता है।

2. भावयित्री प्रतिभा से तात्पर्य है काव्य-रचना को सम्यक् रूप में समझने की क्षमता। क्राव्य-रचना तो कठिन कार्य है ही, जिसके लिए कारयित्री प्रतिभा परम अपेक्षित है; काव्यबोध भी आसान नहीं होता। पाठक और समालोचक अर्थात् भावक में भी अपेक्षित मात्रा में प्रतिभा रहनी चाहिए, जिससे वह काव्य के मर्म को समझ सके। इसे ही 'काव्य मीमांसा' में भावयित्री प्रतिभा नाम से विश्लेषित किया गया है।

आचार्य राजशेखर ने कारयित्री प्रतिभा के भी तीन प्रकार माने हैं– 1. सहजा, 2. आहार्य और 3. औपदेशिकी। सहजा प्रतिभा वह है, जो स्वतः उद्बुद्ध हो। आहार्य प्रतिभा वह है, जिसे परिश्रम आदि की अपेक्षा होती है और औपदेशिकी प्रतिभा वह है, जो योग-जाप, मंत्र-तंत्र, पूजा-पाठ और विशिष्ट साधकों की संगति-उपदेश आदि से प्राप्त की जाती है। इनमें सबसे महत्वपूर्ण सहजा प्रतिभा ही मानी गई है।

चूँकि प्रतिभा के समानान्तर प्रज्ञा की भी चर्चा की जाती रही है, इसलिए राजशेखर ने प्रज्ञा-कवि-बुद्धि का भी सुगम्भीर विवेचन किया है। उनके अनुसार बुद्धि के भी कई रूप होते हैं। जैसे, स्मृति, मति और प्रज्ञा। अतीत ज्ञान से सम्बद्ध बुद्धि स्मृति कहलाती है, वर्तमान की प्रकाशिका बुद्धि मति होती है और भविष्य-चिन्तन को नया विस्तार प्रदान करनेवाली शक्ति 'प्रज्ञा' नाम से अभिहित की जाती है।

प्रतिभा की अन्यतम विशेषता यह मानी गई है कि वह त्रिकाल को अभिव्यंजित करनेवाली होती है।

भारतीय काव्यशास्त्रियों के साथ-साथ पाश्चात्य कवियों एवं समालोचकों ने भी काव्य-प्रतिभा के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किए हैं। प्लेटो, काण्ट, कॉलरिज, शेली-जैसे कवि समालोचकों ने 'कल्पना' का विवेचन प्रतिभा के समानान्तर किया है। उनके विचार भी महत्त्वपूर्ण हैं, पर भारतीय काव्यशास्त्रियों का विवेचन विस्तृत और अधिक गम्भीर है।

2.1.4 व्युत्पत्ति

काव्य-हेतुओं में व्युत्पत्ति का स्थान दूसरा है। व्युत्पत्ति से तात्पर्य है व्यावहारिक ज्ञान। व्यवहार का ज्ञान लोक और शास्त्र दोनों से होता है। इसलिए, व्युत्पत्ति के अन्तर्गत काव्यशास्त्रियों ने कवि से सभी विषयों का व्यावहारिक ज्ञान रखने की आवश्यकता पर बल दिया है।

वस्तुतः यदि कवि को व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त नहीं है, तो वह किसी विषय के वर्णन में स्वाभाविकता और औचित्य का निर्वाह हीं कर पाएगा। इस प्रकार, उसकी काव्य-रचना भी अभीष्ट प्रभाव नहीं उत्पन्न कर पाएगी और अन्ततः वह कृति हास्यास्पद ही नहीं, उपहासास्पद भी हो जाएगी।

यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना समीचीन प्रतीत होता है कि कवि के लिए महाज्ञानी अथवा विशिष्ट विद्वान् होना अनिवार्य नहीं है। प्रतिभा के बल पर वह अच्छी काव्य-रचना कर सकता है। परन्तु, इसका यह अर्थ नहीं है कि रचनाकार को सुपठित अथवा बहुश्रुत नहीं होना चाहिए। कवि-कर्म कोई साधारण कार्य नहीं है। उसके लिए अनेक प्रकार की जानकारी परम अपेक्षित हो जाती है।

आचार्य राजशेखर ने प्रतिभा के साथ व्युत्पत्ति पर भी गम्भीरता से विचार किया है। उनके अनुसार कवि में विवेक शक्ति प्रचुर मात्रा में होनी चाहिए और उसे अनेक विषयों का सम्यक् ज्ञान भी प्राप्त करना चाहिए। व्युत्पत्ति का अभिप्राय भी यही है।

आचार्य भामह (काव्यालङ्कार, 2. 9-10) ने व्युत्पत्ति का स्वरूप-विश्लेषण करते हुए लिखा है कि कवि को विविध शास्त्रों-शब्दशास्त्र, छन्दशास्त्र, अभिधानकोश, इतिहास, लोकव्यवहार, दर्शन, कला एवं अन्य प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं से अवश्य परिचित रहना चाहिए। उन्होंने 'लोक', 'विद्या' और 'प्रकीर्ण' के अन्तर्गत मुख्य रूप से व्युत्पत्ति के साधनों की ही चर्चा की है।

आचार्य वामन ने भी भामह की भाँति ही शास्त्र और लोकव्यवहार के ज्ञान को कवि के लिए अत्यावश्यक माना है और उसे ही 'व्युत्पत्ति' का तात्पर्य बताया है।

आचार्य मम्मट ने 'व्युत्पत्ति' को 'निपुणता' नाम से अभिहित किया। निपुणता प्राप्त करने के लिए उन्होंने लोक से परिचित रहने के साथ-साथ शास्त्र एवं काव्य के अवलोकन की भी अनिवार्यता बतायी है :

'निपुणता लोकशास्त्रकाव्यद्यवेक्षणात्।'

—काव्यप्रकाश, 1.3

मम्मट ने लोकव्यवहार के अन्तर्गत स्थावर और जङ्गम दोनों के जीवन को जानने पर बल दिया है। शास्त्र के अन्तर्गत उन्होंने काव्यशास्त्र, व्याकरण, छन्दशास्त्र के साथ-साथ अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष आदि विविध विषयों को भी परिगणित किया है। काव्य से उनका अभिप्राय महाकवियों-ख्यातिप्राप्त सुकवियों की रचनाओं से है। अन्य विषयों में वे इतिहास आदि को भी सम्मिलित कर लेते हैं। निस्सन्देह, प्रतिभा के साथ व्युत्पत्ति का संयोग न रहने पर 'रघुवंश' (कालिदास) अथवा 'रामचरितमानस' (तुलसीदास) जैसा अत्युत्कृष्ट ग्रंथ नहीं रचा जा सकता था।

इस प्रकार, आचार्य मम्मट ने व्युत्पत्ति के क्षेत्र को अत्यंत व्यापक बना दिया है।

2.1.5 अभ्यास

कहते हैं, 'अभ्यासे नराः।' अर्थात्, व्यक्ति की प्रतिभा, उसका शास्त्रज्ञान एवं विवेकबल आदि सब कुछ अभ्यास पर ही निर्भर है। अमृत-स्वरूप विद्या भी अभ्यास नहीं रहने पर विष-तुल्य हो जाती है—'अनभ्यासे विषं विद्या।'

अस्तु, काव्य-हेतु में अभ्यास का भी अपना अलग महत्त्व है। यह बात दूसरी है कि इस सम्बन्ध में विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं।

आचार्य मम्मट काव्य-हेतुओं में 'अभ्यास' को भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानते हैं। उनके अनुसार, प्रतिभा और व्युत्पत्ति के बाद अभ्यास भी काव्य-रचना का एक अनिवार्य हेतु है।

परन्तु, आचार्य राजशेखर और पण्डितराज जगन्नाथ 'अभ्यास' को कोई स्वतंत्र काव्य-हेतु न मानकर प्रतिभा का सहायक तत्त्व मानते हैं।

निस्सन्देह, काव्य-हेतुओं में प्रतिभा का स्थान सर्वोपरि है। परन्तु, इसका यह अर्थ तो नहीं होता कि 'अभ्यास' काव्य-हेतु है ही नहीं। 'अभ्यास' से तात्पर्य है काव्य-रचना-प्रक्रिया की निरन्तरता अर्थात् पुनः पुनः कवि-कर्म में रत रहना। किसी कार्य में कुशल होने के लिए बार-बार प्रयास करना ही पड़ता है। यही अभ्यास है। कवि-कर्म के लिए भी यह परम आवश्यक है।

निष्कर्षतः, सुन्दर काव्य-रचना के लिए प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों काव्य-हेतुओं का एकत्व वांछनीय है। प्रतिभा की प्रधानता अवश्य है, पर व्युत्पत्ति और अभ्यास के बिना उसका समुचित विकास नहीं हो सकता। इसलिए, आचार्य मम्मट ने इन तीनों को स्वतंत्र रूप से कारण न मानकर इनके समन्वित रूप को श्रेयस्कर समझा। उनके अनुसार ये तीनों काव्य हेतु परस्पर अनुस्यूत हैं– ये 'हेतुः' हैं, 'हेतवः' नहीं हैं।– 'काव्यप्रकाश', 1.3 की वृत्ति। तात्पर्य यह कि प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास-तीनों के सुन्दर समन्वय से श्रेष्ठ काव्य की रचना होती है ।

◆◆◆

काव्य-प्रयोजन

पाठ-संरचना

3.1.1 काव्य प्रयोजन : स्वरूप और प्रकार
3.1.2 मम्मट निर्दिष्ट काव्य-प्रयोजन
यश के लिए
धन के लिए
व्यावहारिकं ज्ञान के लिए
आनन्द प्राप्ति के लिए
मृदुल उपदेश के लिए
3.1.3 भामह-निर्दिष्ट काव्य-प्रयोजन
3.1.4 कुछ अन्य आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट काव्य के प्रयोजन
3.1.5 नाट्याचार्य भरत-निर्दिष्ट काव्य के प्रयोजन
3.2 काव्य-प्रयोजन : पाश्चात्य दृष्टिकोण

3.1.1 काव्य-प्रयोजन : स्वरूप और प्रकार

काव्य-रचना की श्रेष्ठता को निर्धारित करने में उसके प्रयोजन को बहुत महत्त्व दिया जाता है। यह है भी सर्वथा उचित ही, क्योंकि उद्देश्य के महान् नहीं रहने पर कल्याणकारी काव्य का निर्माण भी नहीं हो सकता।

संसार के सभी कार्य किसी-न-किसी उद्देश्य से ही सम्पादित किए जाते हैं। अतएव, काव्य-निर्माण का भी अपना उद्देश्य रहा करता है। इसी उद्देश्य को काव्यशास्त्र में काव्य का प्रयोजन के नाम से अभिहित किया गया है।

काव्य-प्रयोजन के सम्बन्ध में जिन काव्यशास्त्रियों ने विस्तारपूर्वक विचार किया है, उनमें सबसे अधिक चर्चित रहे हैं आचार्य मम्मट। वैसे आचार्य भामह आचार्य वामन, आचार्य कुन्तक, राजाभोज, आचार्य वाग्भट, आचार्य रूद्रट, आचार्य रामचन्द्र-गुणचन्द्र, आचार्य विश्वनाथ, आचार्य जगन्नाथ और सुप्रसिद्ध नाट्याचार्य भरत ने भी काव्य के प्रयोजनों का गंभीर विवेचन किया है। इन काव्यशास्त्रियों ने बड़ी स्पष्टता से यह निर्दिष्ट किया है कि काव्य-निर्माण के कितने प्रयोजन हो सकते हैं अर्थात् काव्य-रचना किन-किन उद्देश्यों को ध्यान में रखकर की जाती है।

ध्यातव्य है कि उक्त आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट सभी प्रयोजनों के अनुसार ही काव्य की रचना की जाए, यह आवश्यक नहीं। परन्तु, इतना निश्चित है कि काव्य-निर्माण में उनके बताए प्रयोजनों में से कोई-न-कोई प्रयोजन निश्चित रूप से रहता ही है। कारण यह कि कोई भी काव्य प्रयोजन-विहीन नहीं होता।

आचार्य मम्मट ने काव्य के प्रयोजनों का प्रतिपादन व्यापक स्तर पर किया है। अतः, पहले उनके द्वारा निर्दिष्ट काव्य के प्रयोजन पर विचार करना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

3.1.2 मम्मट-निर्दिष्ट काव्य-प्रयोजन

मम्मट के अनुसार काव्य के छह प्रयोजन हैं– 1. यश, 2. धन, 3. व्यवहार-ज्ञान, 4. अनिष्ट-निवारण, 5. आनन्द प्राप्ति और 6. उपदेश–

'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मितयोपदेशयुजे।।' **–काव्यप्रकाश, 1-2**

इन काव्य-प्रयोजनों का विश्लेषण आवश्यक है।

1. यश के लिए :

जो रचनाकार और कुछ नहीं चाहता, वह भी कम-से-कम यश की इच्छा तो रखता ही है। बाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसीदास आदि का यश काव्य-रचना के कारण ही निखिल विश्व में व्याप्त है।

2. अर्थ–धन-प्राप्ति के लिए :

अनेक रचनाकारों के लिए काव्य धन का प्रमुख साधन बन जाता है। राजदरबारी कवि तो कविता के माध्यम से धन अर्जित करने ही थे, आज के कवि भी कविता के माध्यम से धन बटोरने का काम किया करते हैं। बिहारी जहाँ एक दोहा लिखकर सी अशर्फियाँ प्राप्त कर लेते थे, वहीं आज के कवि भी सरकार, आकाशवाणी, दूरदर्शन प्रकाशक और कवि-सम्मेलनों के माध्यम से धन एकत्र कर लेते हैं। हाँ, जो साहित्यकार धन से बढ़कर स्वाभिमान को महत्त्व देता है, वह निश्चित ही धनी नहीं बन पाता। व्यक्तित्व और धन में सामञ्जस्य स्थापित करना आसान भी नहीं है।

3. व्यावहारिक ज्ञान के लिए :

रुचि-परिष्कार और विवेक-विस्तार साहित्य-निर्माण का प्रधान उद्देश्य होता है। महान् चरित्रों एवं उत्कृष्ट घटना-प्रसंगों को उपस्थित कर रचनाकार पाठकों को जीवन-मूल्य से परिचित कराता है– उन्हें सुसंस्कृत जीवन की प्रेरणा प्रदान करता है। लोक-व्यवहार की व्यंजना काव्य में होती है। इसी से साहित्य का अध्येता अनायास मृदुभाषी और व्यवहार-कुशल बन जाता है।

साहित्य का भावार्थ विराट् मनुष्यत्व है। काव्य मनुष्य को जीने की कला सिखाता है। उसी से मानव सही अर्थ में सात्त्विक, सभ्य और सुसंस्कृत बन जाता है। मानव-लोक का व्यावहारिक रूप सभ्यता और संस्कृति द्वारा ही प्रकट होता है। इसका सही निर्धारण साहित्य ही करता है। प्रेम, स्नेह, सद्भाव, त्याग, परोपकार, सत्य, अहिंसा, सेवा आदि की भावना सर्वाधिक मात्रा में साहित्य से ही जागरित होती है। इन्हीं महत् कार्यों के सन्दर्भ में व्यावहारिक ज्ञान का वैशिष्ट्य प्रकट होता है। अतः, काव्य निस्सन्देह व्यवहार का कुशल मार्गदर्शक है।

4. अनिष्ट-निवारण के लिए :

कल्याणकारित्व साहित्य का प्राण तत्त्व है। अर्थात्, हितकारिता में ही साहित्य की सार्थकता निहित होती है। ऐसी स्थिति में अनिष्ट का निवारण करना अर्थात् अहित-रोग, शोक, दुःख, पीड़ा से प्राणी को बचाना साहित्य का परम दायित्व हो जाता है।

अनिष्ट-निवारण के लिए काव्य का प्रयोग अनेक रूपों में किया जाता है। 'दुर्गासप्तशती', गीता, वाल्मीकीय रामायण, रामचरितमानस, हनुमान चालीसा आदि के पाठ से आज भी लोगों को कष्टमुक्त होते देखा जाता है।

कहते हैं, 'रघुवंश' की रचना कर कालिदास स्वयं पीड़ा-मुक्त हुए थे। इसी प्रकार, 'सूर्यशतक' ग्रन्थ-निर्माण से मयूर कवि को कुष्ठ रोग से त्राण मिल गया था। ऐसे और भी अनेक उदाहरण जन-समाज में चर्चित-प्रशंसित हैं।

5. आनन्द-प्राप्ति के लिए :

आनन्द प्रदान करना काव्य का अन्यतम प्रयोजन होता है। काव्य-रस अलौकिक अर्थात् विलक्षण होता है। काव्य-रस को ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा गया है– ब्रह्म रसमय अर्थात् आनन्दमय होता है– 'रसो वैसः।' काव्य की अनुभूति-रसानुभूति आनन्दानुभूति की पर्याय है।

काव्यानन्द का वैशिष्ट्य यह है कि उसके सामने संसार के सुख-दुःखपूर्ण सभी विषय अनायास विरोहित हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि इस असार संसार में काव्य ही सार तत्त्व है, उसी में जीवन का सच्चा आनन्द अवस्थित है।

'रामचरितमानस' का पाठ करते समय अथवा 'श्रीमद्भागवत-महापुराण' का पठन-श्रवण करते समय न जाने कितने लोग आनन्दमग्न हो जाते हैं– कम-से-कम क्षण-भर के लिए तो दुख-दर्द से निश्चय ही मुक्त हो जाया करते हैं।

आचार्य मम्मट ने आनन्द प्रदान करने के इस प्रयोजन को काव्य का सबसे महान् प्रयोजन माना है :

'सकल प्रयोजनमौलिभूतं समन्तरमेव रसास्वादसमुद्भूतं
विगलितवेदान्तरमानन्दम्।' **–काव्य प्रकाश, 1.2 (वृत्ति)**

6. मृदुल उपदेश के लिए :

काव्य मधुर और कोमल हाने के साथ-साथ अत्यन्त प्रभावक भी होता है। वह इतना मर्मस्पर्शी होता है कि उससे अनुप्राणित हुए बिना नहीं रहा जा सकता। वैसे, आज मानवीय संवेदना का स्रोत सूखता-सा दिखाई पड़ता है, इसलिए काव्य का प्रभाव-उसका उपदेश भी निस्सन्देह गौण बनता जा रहा है। फिर भी, साहित्य को छोड़कर और किसी साधन में मानवीय संवेदना को जागरित करने, मानव को विवेक-शक्ति प्रदान करने और उसे सही कर्म की ओर प्रेरित करने की विलक्षण क्षमता नहीं है।

शास्त्र में उपदेश के कई प्रकार बताए गए हैं। आचार्य मम्मट के अनुसार तीन प्रकार के उपदेश प्रचलित रहे हैं :

1. प्रभुसम्मित,
2. सूहृत्सम्मित और
3. कान्तासम्मित।

जिस उपदेश में शस्त्र-वेद, उपनिषद्, स्मृति, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र आदि का आदेश-निर्देश रहता है, उसे प्रभुसम्मित उपदेश कहा जाता है। इस प्रकार के उपदेश का पालन करना आसान नहीं होता।

जिस उपदेश से उचित परामर्श देने का कार्य किया जाता है, उसे सुहृत्सम्मित उपदेश कहा जाता है। पुराणादि में इसी प्रकार के उपदेश भरे-पड़े हैं। वेद, स्मृति, धर्मसूत्र की भाँति पुराण आदेश नहीं प्रदान करता,

अपितु सच्चे मित्र की तरह वह उचित परामर्श देता है।

जो उपदेश रस-रूप में प्राप्त हो, जिसमें कोमलता, सरसता और व्यंजकता हो-हृदयग्राही भावप्रवणता हो, उसे कान्तासम्मित उपदेश कहा गया है। कानतासम्मित उपदेश से तात्पर्य है सुन्दर नारी के समान प्रेमपरिपूरित वाणी में उचित मार्गदर्शन करना।

निस्सन्देह, प्रयोजनानुसार काव्य के व्यंग्य में ऐसी सरस वेधकता भर ही जाती है कि उससे उचित मार्ग के अवलम्बन के लिए समुद्र के समान गम्भीर और हिमालय-सदृश स्फीत विराट् व्यक्तित्व मर्यादापुरुषोत्तम राम के नाम को भी झकझोर दिया जाता है :

'कंचन मृग खोजनये आए।' **–रामचरितमानस, 3.16.3**

या फिर सीताजी के उस सरस वचन को देखा जा सकता है, जिसे उन्होंने राम-वन-गमन के अवसर पर कहा था :

'मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू।
तुमहिं उचित तप मो कहँ भोगू।।' **–रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड**

इस कान्तासम्मित उपदेश का ऐसा अचूक प्रभाव पड़ा कि राम ने सहर्ष अपने साथ सीताजी को वन चलने की अनुमति दे दी। कान्तासम्मित उपदेश का इससे अधिक प्रभाव और क्या हो सकता है?

3.1.3 भामह-निर्दिष्ट काव्य-प्रयोजन

आचार्य भामह ने 'काव्य के प्रयोजन' पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, कला-वैलक्षण्य, यश और आनन्द की प्राप्ति के लिए काव्य की रचना की जाती है :

'धर्मार्थकाममोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्त्तिं प्रीतिं च साधु काव्यनिबन्धनम्। **–काव्यालंकार, 1.12**

3.1.4 कुछ अन्य आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट काव्य के प्रयोजन

वामन (काव्यालंकार सूत्र), भोज (सरस्वती कंठाभरण), रुद्रट (काव्यालंकार), रामचन्द्रगुणचन्द्र (नाट्यदर्पण), विश्वनाथ (साहित्यदर्पण) आदि ने भी मुख्य रूप से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति को ही काव्य का प्रयोजन माना। इन आचार्यों के मतों में कोई नवीनता नहीं दिखाई पड़ती।

पण्डितराज जगन्नाथ (रसगंगाधर) के अनुसार काव्य के प्रयोजनों में एक प्रयोजन राजा की कृपा प्राप्त करना भी है। उनका यह मत निश्चित रूप से दरबारी प्रवृत्ति से प्रभावित है। इस प्रयोजन से लिखा गया काव्य जीवन को सच्ची प्रेरणा नहीं प्रदान कर सकता।

आचार्य वाग्भट (काव्यानुशासन) ने केवल 'कीर्ति' को काव्य का प्रयोजन माना है। इस मत के सर्वमान्य न होने का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता। 'कीर्ति' शब्द बहुत व्यापक है। यश को भी 'कीर्ति' कहा जाता है और कीर्ति से ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की भी प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार, यह काव्य का कोई नया प्रयोजन नहीं प्रतीत होता।

आनन्दवर्धन (ध्वन्यालोक, 1.1) के अनुसार काव्य का मुख्य प्रयोजन है आनन्द की प्राप्ति। सचमुच, यह एक ऐसा प्रयोजन है, जो प्रधानता की दृष्टि से सर्वमान्य है– यहाँ तक कि आचार्य मम्मट ने भी इसी प्रयोजन को सबसे अधिक महत्त्व दिया था।

3.1.5 नाट्याचार्य भरत-निर्दिष्ट काव्य के प्रयोजन

काव्य-प्रयोजन के संबंध में विचार करते समय आचार्य भरत की चर्चा परम अपेक्षित है। यद्यपि आचार्य भरत नाट्याचार्य के रूप में विख्यात हैं, तथापि उन्होंने नाट्य-प्रयोजन पर इतने विस्तार से विचार किया है कि उससे 'काव्य-प्रयोजन' को नया विस्तार मिल जाता है।

आचार्य भरत ने नाटक की प्रतिष्ठापना पंचमवेद के रूप में की थी और समाज में व्याप्त वर्ग-वैषम्य को दूर कर दिया था। साहित्य का इससे बड़ा प्रयोजन और कुछ हो नहीं सकता।

नाट्यशास्त्र में नाट्य के इतने प्रयोजनों पर प्रकाश डाला गया है कि सभी काव्यशास्त्रियों के प्रयोजन-सम्बन्धी मतों का समाहार उसमें हो जाता है। उसे सुख, धैर्य, आनन्द आदि देनेवाला तो कहा ही गया है, सबसे बढ़कर दुख, शोक, संताप आदि को दूर करने का अमोघ साधन भी कहा गया है, जो काव्य-प्रयोजन को नई दिशा प्रदान करता है :

'दुःखार्तानां श्रमर्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रान्तिजननं काले नाट्यमेतद् भविष्यति ।।' **—नाट्यशास्त्र, 1.114**

3.2 काव्य-प्रयोजन : पाश्चात्य दृष्टिकोण

जिन पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य के प्रयोजनों पर विचार किया है, उनमें अरस्तू, रिचर्ड्स, आर्नल्ड, ब्रेडले आदि अधिक चर्चित रहे हैं। इनमें आर्नल्ड का मत मम्मट, भामह, आनन्दवर्धन से बहुत मिलता है, क्योंकि उन्होंने भी 'आनन्द-प्राप्ति' को काव्य का मुख्य प्रयोजन माना है। ऐसा ही मत ब्रेडले का भी है। पर, भारतीय आचार्यों ने व्यापक दृष्टि से काव्य के प्रयोजनों पर प्रकाश डाला है।

◆◆◆

काव्य-भेद

पाठ-संरचना

4.1.1 काव्य के वर्गीकरण का प्रयोजन

4.1.2 काव्य के वर्गीकरण का आधार

प्रमुख आधार :

(क) विद्या के अनुसार

(ख) अर्थ के अनुसार

गौण आधार

4.2 विद्या के अनुसार काव्य के भेद

4.2.1 दृश्यकाव्य एवं श्रव्यकाव्य

4.2.2 दृश्यकाव्य

नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी,

अंक, ईहामृग, उपरूपक

नाटिका, नाट्य रासक, सट्टक, त्रोटक, गोष्ठी, प्रस्थानक, उल्लाप्य, काव्य रासक,

प्रेङ्खण, संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणिका,

हल्लीस, भाणिका।

4.2.3 श्रव्यकाव्य

गद्य

पद्य

चम्पू

4.2.4 गद्य

4.2.5 पद्य– (क) प्रबन्ध (ख) मुक्तक

महाकाव्य, खण्डकाव्य।

4.2.6 चम्पू

4.3 अर्थ के अनुसार काव्य-भेद

ध्वनिकाव्य, गुणीभूत व्यंग्य काव्य, चित्रकाव्य

4.4 गौण आधार

4.1.1 काव्य के वर्गीकरण का प्रयोजन

'काव्य' शब्द व्यापक है। उसका क्षेत्र विशाल एवं विस्तृत है। इसलिए, उसे विभिन्न वर्गों में विभक्त कर ही स्पष्टतया समझा जा सकता है। वस्तुतः किसी विषय के सूक्ष्म विश्लेषण के लिए उसका वर्गीकरण आवश्यक हो जाता है।

भारत में काव्य-रचना की सुदीर्घ परंपरा रही है। सहस्राब्दियों में निर्मित विपुल-साहित्य विविधता की दृष्टि से भी आश्चर्य चकित करने वाला है। किसी एक ही आधार पर उसे सम्यक् रूप में परखना सम्भव नहीं है। यही कारण है कि आचार्यों ने काव्य के विविध भेदों का निरूपण कर साहित्य के अध्ययन-अन्वेषण का मार्ग प्रशस्त करने के साथ-साथ उसे सरल भी बना दिया है।

4.1.2 काव्य के वर्गीकरण के आधार

काव्य के वर्गीकरण के आधारों पर दो दृष्टियों से विचार किया गया है :

1. प्रमुख आधार
2. गौण आधार

1. काव्य-भेद के प्रमुख आधार को भी विद्वानों ने दो रूपों में प्रस्तुत किया है :

(क) विधा के अनुसार

(ख) अर्थ के अनुसार

(क) विधा के आधार पर काव्य के भेदों पर विचार करने वाले आचार्यों में भरत, भामह, दण्डी, वामन, विश्वनाथ और जगन्नाथ प्रमुख हैं।

(ख) अर्थ के अनुसार काव्य के भेद पर जिन विद्वानों ने गम्भीरतापूर्वक विचार किया है, उनमें मम्मट, आनन्दवर्धन और जगन्नाथ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

2. गौण आधार :

भाषादि के अनुसार काव्य के भेद निर्दिष्ट करनेवाले आचार्यों में दण्डी, रूद्रट और हेमचन्द्र के नाम अधिक चर्चित रहे हैं।

4.2 विधा के अनुसार काव्य के भेद

4.2.1 दृश्यकाव्य एवं श्रव्यकाव्य :

विधा के अनुसार काव्य के दो प्रमुख भेदों-दृश्य और श्रव्य का विवेचन अनेक मान्य आचार्यों न किया है। आचार्य विश्वनाथ ने इसका स्पष्ट निर्देश करते हुए लिखा है :

'दृश्य श्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्।' साहित्य दर्पण, 6.1

4.2.2 दृश्यकाव्य :

रंगमंच पर प्रस्तुत होनेवाले काव्य को दृश्यकाव्य कहा जाता है। आचार्य भरत ने दृश्यकाव्य का विस्तृत विवेचन 'नाट्यशास्त्र' में किया है। इसे 'रूपक' नाम से भी अभिहित किया गया है।

आचार्य भरत ने रंगमंचीयता की शर्त्त लगाकर दृश्यकाव्य के स्वरूप को भली भाँति स्पष्ट कर दिया था :

'दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत्।' —**नाट्यशास्त्र, 1.11**

आचार्य धनञ्जय ने भी 'रूपं दृश्यतयोच्यते' (दशरूपक, 1.7) कहकर अभिनेयता को दृश्यकाव्य की मूल पहचान के रूप में प्रतिष्ठित किया है।

'नाट्यशास्त्र' के अतिरिक्त दशरूपक (धनञ्जय), 'नाट्यदर्पण' (रामचन्द्र गुणचन्द्र), 'अभिनयदर्पण' (नन्दिकेश्वर) और 'साहित्यदर्पण' (विश्वनाथ) में रूपक के भेदोपभेद पर विस्तार पूर्वक विचार किया गया है। वैसे रूपक के सताईस भेदों की चर्चा की गई है, पर उसके दस भेद ही अधिक प्रचलित हैं।

रूपक के जो दस प्रमुख भेद बताए गए हैं, उनके नाम हैं : 1. नाटक, 2. प्रकरण, 3. भाण, 4. प्रहसन, 5. डिम, 6. व्यायोग, 7. समवकार, 8. वीथी, 9. अंक और 10. ईहामृग।

1. **नाटक** : रूपकों में नाटक का स्थान सर्वोपरि है। नाटक को परिभाषित करते हुए आचार्य भरत ने लिखा है :

नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम।।'

—**नाट्यशास्त्र 1.112**

अर्थात्, नाटक लोकवृत्त का अनुकरण है, जो विविध भावों एवं अवस्थाओं से युक्त रहता है। 'अवस्थानुकृतिर्नाट्य'– (दशरूपक) लिखकर धनञ्जय ने भरत का ही अनुसरण किया है। आगे उन्होंने नाटक का स्वरूप-निर्धारण इस प्रकार किया है :

'योऽयं स्वभावों लोकस्य सुख-दुःखसमन्वितः।
सोऽङ्गधिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते।''

—**नाट्यशास्त्र, 1.119**

तात्पर्य यह कि नाटक सुख-दुःखसमन्वित जीवन का दृश्य रूप में उपस्थापन होता है। इस दृष्टि से नाटक में भावों के अनुकूल अभिनय के चारों भेदों– आंगिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य का सन्निवेश भी स्वतः ही हो गया है।

आचार्य भरत ने नाटक का लक्षण बताते हुए लिखा है :

'मृदुललित पदाढ्यं गूढ शब्दार्थं हीनं
जनपद सुखबोध्यं युक्तिमन्नृत्तयोज्यम्।
बहुरसकृतमार्ग संधिसन्धान युक्तं
भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम् ।।'

—**नाट्यशास्त्र**

अर्थात् जो रचना कोमल पद, सरल शब्द, अर्थलालित्य, अपेक्षित रस एवं सन्धियों से युक्त तथा सर्वजनबोधगम्य होने के साथ-साथ अभिनेय हो, उसे नाटक कहते हैं।

नाटक के तीन से छह तत्त्वों की चर्चा विद्वानों ने की है। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने नाटक के तीन तत्त्व माने हैं– 1. वस्तु, 2. नेता और 3. रस।

पाश्चात्य विद्वानों ने नाटक के छह तत्त्व बताए हैं : 1. कथावस्तु, 2. चरित्र-चित्रण, 3. संवाद, 4. भाषा-शैली, 5. देशकाल और 6. उद्देश्य।

2. प्रकरण : प्रकरण भी रूपक का प्रमुख भेद है। परन्तु, इसकी कथा कल्पित होती है और नायक भी गौण ही होता है। प्रकरण के तीन भेद प्रचलित हैं :

शुद्ध प्रकरण, विकृत प्रकरण और संकीर्ण प्रकरण।

3. भाण : भाण की कथा कल्पित होती है और उसमें एक ही पात्र होता है।

4. प्रहसन : प्रहसन में हास्य के छह रूप पाए जाते हैं : हसित, अहसति, उपहसित, अवहसित, अतिहसित, विहसित। वस्तुतः, प्रहसन में हास्य की प्रधानता रहती ही है।

5. डिम : डिम की कथावस्तु विख्यात रहने के साथ-साथ संघर्षपूर्ण भी रहती है।

6. व्यायोग : व्यायोग में नायिका नहीं रहा करती।

7. समवकार : समवकार का अंगीरस वीर रहता है। देव दानव का संघर्ष दिखाना इसका मुख्य उद्देश्य माना गया है।

8. वीथी : वीथी में सभी प्रकार के नायकों और रसों का सन्निवेश संभव है।

9. अंक-उत्सृष्टिकाङ्क : इसमें घटना प्रसिद्ध, नायक सामान्य और अङ्गीरस करुण रहता है।

10. ईहामृग : इसकी कथावस्तु मिश्रित रहती है और इसमें 'मृगनयनी' की प्राप्ति हेतु प्रयास किया जाता है।

4.2.2.1 उपरूपक :

आचार्यों ने उपरूपक के अठारह भेदों की चर्चा की है :

1. नाटिका : नाटिका में शृंगाररस और स्त्रीपात्रों की प्रधानता रहती है।

2. नाट्यरासक : इसमें वसन्त ऋतु और नृत्य का आयोजन मुख्य रूप से किया जाता है।

3. सट्टक : इसमें मुख्यतः प्राकृत भाषा का प्रयोग होता है।

4. त्रोटक : इसमें अंगीरस शृंगार और पात्र मनुष्य के अतिरिक्त देवता भी होते हैं।

5. गोष्ठी : इसमें एक अंक होता है और शृंगार रस मुख्य होता है।

6. प्रस्थानक : इसमें दो अंक होते हैं और नायक दास होता है।

7. उल्लाप्य : उल्लाप्य को नाटक की तरह महत्त्वपूर्ण माना गया है। पर, इसका कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं होता।

8. काव्य : इसमें एक ही अंक होता है, जबकि गीत बहुत होते हैं।

9. रासक : इसमें नृत्य और नायिकाओं की प्रधानता रहती है। नायक मूर्ख होता है।

10. प्रेङ्खण : इसमें नृत्य का आयोजन अधिक रहता है और इसका प्रदर्शन असभ्य लोगों के स्थान पर होने की चर्चा मिलती है।

11. संलापक : इसमें नायक पाखण्डी और दृश्य भगदड़ सम्बन्धी होता है।

12. श्रीगदित : एक ही अंक होता है श्रीगदित में भी पर, इसमें कथावस्तु और पात्र प्रसिद्ध होते हैं।

13. शिल्पक : इसमें मुख्य रसों के साथ शव, श्मशान आदि से सम्बद्ध विषय भी चर्चित होते हैं।

14. **विलासिका** : एक ही अंक, पर गीत, नृत्य आदि का आयोजन रहता है इसमें।

15. **दुर्मल्लिका** : इसमें अश्लील कथा और दूती की प्रधानता रहती है।

16. **प्रकरणिका** : प्रकरणिका नाटक, प्रकरण और नाटिका के मिश्रण से बनती है।

17. **हल्लीस** : इसमें नृत्य, गान, स्वर, ताल आदि पर विशेष बल दिया जाता है।

18. **भाणिका** : इसमें एक अंक होता है और कौशिकी वृत्ति की प्रधानता होती है। परन्तु इन भेदोपभेदों का अब बहुत महत्त्व नहीं रह गया है।

4.2.3 श्रव्यकाव्य

जो काव्य अध्ययन और श्रवण तक ही सीमित रहता है अर्थात् जिसे रंगमंच की अपेक्षा नहीं होती, उसे श्रव्यकाव्य कहते हैं।

सामान्यतया श्रव्यकाव्य के तीन भेद प्रचलित हैं :

1. गद्य
2. पद्य
3. चम्पू (गद्यकाव्य के अन्तर्गत इसका समावेश किया गया है)

4.2.4 गद्य

चूँकि पद्य छन्दात्मक होता है, इसलिए जो कृति छन्दोवद्ध नहीं होती, उसे 'गद्य' के नाम से अभिहित किया जाता है। यहाँ छन्दोबद्ध, छन्दमुक्त और मुक्त छन्द के अन्तर का स्पष्टीकरण आवश्यक प्रतीत होता है, अन्यथा गद्य, पद्य और गद्यकाव्य में विभेद निदर्शित करना कठिन हो जाएगा।

लय और गति की पकड़ छन्द के स्वरूप की पहचान क लिए परम अपेक्षित है। इस प्रकार, पद्य छन्दमुक्त नहीं हो सकता। हाँ, मुक्त छन्द में पद्य का निर्माण हो सकता है। मुक्त छन्द में छन्द के बाह्य ढाँचे-वर्ण, मात्रा आदि के बन्धन को स्वीकार नहीं किया जाता, पर उसकी आन्तरिक विशेषता-लय और गति नितान्त आवश्यक है। निराला मुक्त छन्द के सफल प्रयोक्ता हैं और उनकी किसी भी पद्य रचना में लय और गति का अभाव नहीं है। तात्पर्य यह कि पद्य की भाँति छन्दबद्ध नहीं रहनेवाली रचना गद्य कहलाती है।

प्राचीन आचार्यों ने गद्य के अनेक भेद किए हैं। जैसे, आख्यान, आख्यायिका, कथा, कथनिका, कथन, खण्डकथा, परिकथा, संकीर्ण आदि। आधुनिक युग में गद्य के मुख्य भेद हैं : कहानी, लघुकथा, आत्मकथा, उपन्यास, लघु उपन्यास, निबन्ध, ललित निबन्ध, रेखाचित्र, संस्मरण, जीवनी, रिपोर्ताज और यात्रावृत्तान्त।

4.2.5 पद्य

पद्य के मुख्य भेद दो हैं :

1. प्रबन्ध
2. मुक्तक (अनिबद्ध)

2. अध्ययन की सुविधा के लिए प्रबन्ध काव्य के भी दो भेद कर दिए गए हैं :

(क) महाकाव्य

(ख) खण्डकाव्य

(क) महाकाव्य के लक्षण और स्वरूप पर आचार्य भामह (काव्यालंकार) आचार्य दण्डी (काव्यादर्श), आचार्य रुद्रट (काव्यालंकार) और आचार्य विश्वनाथ (साहित्यदर्पण) ने विस्तारपूर्वक विचार किया है।

विस्तृत एवं सुनियोजित कथावस्तु, सर्गबद्धता, सफल नायकत्य, अंगीस के रूप में शृंगार, वीर और शांत रसों में से किसी एक रस की सम्यक् व्यञ्जना, अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष– इन चारों पुरुषार्थों का विवेचन, काव्य सौन्दर्य का अंकन, उदात्त भाषा शैली और महान् उद्देश्य क अनुरूप प्रभावपूर्ण समापन महाकाव्य के अपेक्षित तत्त्व और वैशिष्ट्य माने गए हैं।

वस्तुतः महाकाव्य में जीवन अपनी समग्रता में अभिव्यञ्जित होता है। उसमें निखिल मानवता को महिमा-मण्डित करने की अद्भुत क्षमता सर्वथा अपेक्षित है। संस्कृत में बाल्मीकीय रामायण, कालिदास-रचित 'रघुवंश' और हिन्दी में तुलसीकृत 'रामचरितमानस' के अतिरिक्त प्रसाद-प्रणीत 'कामायनी' की गणना श्रेष्ठ महाकाव्यों में होती है।

(ख) खण्डकाव्य भी सर्गबद्ध होता है और उसकी कथावस्तु परस्पर सम्बद्ध रहती है। परन्तु, अपने सीमित आकार में वह सम्पूर्ण जीवन को अभिचित्रित नहीं कर पाता। हिन्दी में मैथिलीशरण गुप्त-लिखित जयद्रथ-वध और दिनकर विरचित 'कुरुक्षेत्र' श्रेष्ठ खण्डकाव्य हैं।

2. मुक्तक अथवा अनिबद्ध काव्य :

जिस पद्य में कथावस्तु पूर्वापरनिरपेक्ष रहती है, उसे मुक्तक अथवा अनिबद्ध काव्य कहते हैं। स्पष्ट है कि प्रबन्धकाव्य में कथावस्तु सर्वथा सुसम्बद्ध रहती है, पर मुक्तक में कथावस्तु सर्वथा असम्बद्ध रहती है। विद्वानों ने विशेषकर विश्वनाथ ने श्लोकों के आधार पर अनिबद्ध काव्य के पाँच प्रकार बताए हैं : मुक्तक (एकश्लोक), युग्मक (दो श्लोक), सन्दानितक (तीन श्लोक), कलापक (चार श्लोक) और कुलक (पाँच श्लोक)। हिन्दी में तुलसी की 'कवितावली', बिहारी की 'सतसई'– जैसी रचनाएँ मुक्तक ही हैं।

4.2.6 चम्पू

आचार्य विश्वनाथ (साहित्यदर्पण, 6.336-37) ने गद्यकाव्य के अन्तर्गत तीन काव्य-रूपों की चर्चा की है : चम्पू, विरुद और करम्भक।

इनमें से चम्पू वह काव्य-रूप है, जो गद्य-पद्य युक्त होता है : 'गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।' (साहित्यदर्पण, 6.336)। हिन्दी में मैथिलीशरण गुप्त-रचित 'यशोधरा' चर्चित चम्पू है।

'विरुद' में गद्य के साथ पद्य भी रहता है और उसमें किसी राजा की स्तुति की जाती है। यह निश्चय ही दरबारी प्रवृत्ति का परिचायक है।

'करम्भक' में कई भाषाओं में गद्य और गद्य के माध्यम से भाव व्यक्त किया जाता है। यह काव्य-रूप अधिक प्रचलित नहीं हुआ।

4.3 अर्थ के अनुसार काव्य-भेद

अर्थ के आधार पर काव्य के तीन भेद किए गए हैं :

1. ध्वनि काव्य
2. गुणीभूत व्यंग्य काव्य
3. चित्र काव्य।

4.3.1 ध्वनि काव्य

काव्य में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ को अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। यह है भी स्वाभाविक ही। कारण यह कि काव्य सूक्ष्म होता है और सूक्ष्मता ध्वनि में अर्थात् व्यंग्यार्थ में अधिक रहती है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने (ध्वन्यालोक, 1.3) ध्वनिकाव्य को परिभाषित करनते हुए लिखा है कि इसमें वार्च्य अर्थ को गौण कर विशिष्ट अर्थ ग्रहण किया जाता है, जिसे 'प्रतीयमान अर्थ' अर्थात् व्यंग्यार्थ कहा जाता है। इस प्रकार, वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ का अतिशयित होना ध्वनिकाव्य की मूल पहचान है। आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिपादित ध्वनिकाव्य का लक्षण इतना प्रभावक था कि मम्मट और विश्वनाथ ने भी उसी का अनुसरण किया।

आचार्य विश्वनाथ ने ध्वनिकाव्य का लक्षण बताया है : 'वाच्यदतिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्'–साहित्यदर्पण, 4.1) अर्थात् ध्वनिकाव्य इसलिए उत्तम है कि उसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अतिविशिष्ट होता है।

ध्वनिकाव्य के अनेक भेदोपभेदों का विवेचन काव्यशास्त्रियों ने किया है। आचार्य मम्मट ने तो ध्वनि के अठारह भेदों का सुगम्भीर विश्लेषण किया है।

सामान्यतया ध्वनिकाव्य के दो मुख्य भेद बताए गए हैं :

1. अभिधामूलक ध्वनिकाव्य (विवक्षितान्य परवाच्य)–बाधित–वाच्यार्थ।

2. लक्षणामूलक ध्वनिकाव्य (अविवक्षित वाच्य)–व्यंग्योन्मुख वाच्यार्थ।

अभिधामूलक अर्थात् विवक्षितान्य परवाच्य ध्वनि के दो भेद हैं :

(क) असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य

(ख) संलक्ष्य क्रम व्यंग्य

(क) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य में वाच्य-व्यंग्य-अर्थों के क्रम का पता नहीं चलता। जैसे,

'पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा, सियबन दीन्ह पग अवनि कठोरा।
जिअन-मूरि जिमि जुगवत रहऊँ, दीप बाति नहिं टारन कहऊँ।
सो सिय चलनि चहति बनसाथा, आयुस काह होई रघुनाथा

–रामचरितमानस

यहाँ कौसल्याजी की उक्ति में वाच्यार्थ और ध्वनिरूप में व्यंग्यार्थ एक साथ प्रकट हो जाता है। पहले वाच्यार्थ और तब व्यंग्यार्थ का क्रम स्पष्ट नहीं होता। इसलिए, असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य है। इसके पदगत, पदांशगत, वाक्यगत, रचनागत, वर्णगत, प्रबन्धगत आदि भेद होते हैं।

(ख) संलक्ष्य क्रम में वाच्यार्थबोध के बाद क्रमशः व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है। जैसे,

'जो पहाड़ को तोड़-फोड़कर बाहर कढ़ता।
निर्मल जीवन वहीं सदा जो आगे बढ़ता ।।'

यहाँ वाच्यार्थ यह है कि जीवन-जल पहाड़ को तोड़फोड़कर उसके भीतर से निकलता है। फिर, वाच्यार्थ के बाद व्यंजना यह होती है कि वही मानव-जीवन सही अर्थ में पावन एवं गतिमय बना रहता है, जो पहाड़-सदृश विघ्नों को रौंदकर अग्रसर होता है। इसमें मानव के धैर्य और पराक्रम की व्यंजना की गई है।

संलक्ष्य क्रम व्यंग्य के तीन भेद हैं :

शब्दशक्त्युद्भव, अर्थशक्त्युदभव एवं उभयशक्त्युद्भव। इनमें अर्थशक्त्युद्भव के बारह भेद बताए गए हैं। स्वत: सम्भवी, कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध, कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध आदि की चर्चा भी इसी के भेदोपभेदों के रूप में की जाती है। परन्तु, इतने सूक्ष्म अध्ययन का यहाँ कोई प्रयोजन नहीं दीखता। प्रतीयमान अर्थ (व्यंग्यार्थ) इतना सूक्ष्म होता है कि उसके अनन्त भेद बताए जा सकते हैं।

लक्षणामूल अर्थात्– अविवक्षितवाच्य के मुख्य दो भेद हैं– अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य। ध्वनि के इन भेदों के आधार पर काव्य के अनन्त भेदों का प्रतिपादन अनपेक्षित है।

4.3.2 गुणीभूतव्यंग्य काव्य

जो काव्य ध्वनिकाव्य की तुलना में गौण होता है, उसे गुणीभूत व्यंग्य काव्य कहते हैं। तात्पर्य यह कि इसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से अधिक सूक्ष्म नहीं रह जाता।

'काव्य-प्रकाश' में आचार्य मम्मट ने गुणीभूतव्यंग्य की चर्चा विशद रूप में की है और उसके आठ भेद बताए हैं। यहाँ अत्यन्त संक्षेप में उन आठों भेदों पर विचार करना ही अभीष्ट है।

1. अगूढ़व्यंग्य : जो व्यंग्यार्थ सरलता से समझ में आ जाता है, उसे अगूढ़व्यंग्य कहा जाता है। जैसे,

'पुत्रवती युवती जग सोई।
रामभक्त सुत जाकर होई।।'

–रामचरितमानस

2. अपरास्यंग व्यंग्य : जब व्यंग्यार्थ किसी अन्य प्रधान अर्थ का अंग बन जाता है, तब उसे अपरास्यंग व्यंग्य कहते हैं। जैसे–

'सपनो है संसार यह रहत न जाने कोय।
मिलि पिय मनमानी क रौ काल कहाँ घौं होय।।

यहाँ शांत रस श्रृंगाररस का अंग हो गया है।

3. वाच्यसिद्धयंग व्यंग्य : जब वाच्यार्थ की सिद्धि में व्यंग्यार्थ साधन मात्र बनकर रह जाता है, तब उसे वाच्य सिद्ध व्यंग्य कहते हैं। जैसे–

पंखड़ियों में ही छिपी रह, कर न बातें व्यर्थ।
ढूँढ़ कोषों में न प्रियतम-नाम का तू अर्थ ।।'

यहाँ मुग्धानायिका के प्रति जो व्यंग्य है, वह वाच्यार्थ का सहायक बन गया है।

4. अस्फुट व्यंग्य : जो व्यंग्यार्थ स्पष्ट न हो अर्थात् जिस व्यंग्य अर्थ को समझने में विद्वानों को भी कठिनाई हो, उसे अस्फुटव्यंग्य कहा जाता है। जैसे–

खिले नव पुष्प जग प्रथम सुगंध के
प्रथम वसंत में गुच्छ गुच्छ।'

–निराला

यहाँ यौवन के प्रथम चरण में प्रेयसी की नई-नई अभिलाषों की जो व्यंजना है, वह निश्चित ही गूढ़ है।

5. संदिग्धप्राधान्यव्यंग्य : जब वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में यह निर्णय करना कठिन हो कि प्रधानता किसकी है, तब संदिग्धप्राधान्यव्यंग्य होता है। जैसे–

'थके नयन रघुपति छबि देखी। पलकन हूँ परिहरी निमेखी।
अधिक सनेह देह भई भोरी। सरद ससिहिं जनु चितव चकोरी।।

–रामचरितमानस

यहाँ रामचन्द्रजी के प्रति सीताजी का और चन्द्रमा के प्रति चकोरी का जो भाव व्यक्त है, उसमें प्रधानता का निर्णय सन्देह में डाल देता है।

6. तुल्यप्रधान्यव्यंग्य : जब वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ की समकक्षता में आ जाए, तब उसे तुल्यप्रधान्यव्यंग्य कहा जाता है। जैसे–

'आज बचपन का कोमल गात, जरा का पीला पात।
चार दिन सुखद चाँदनी रात और फिर अंधकार प्रज्ञात।।' **–सुमित्रानन्द पंत**

यहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ में संसार की असारता समान रूप से अभिव्यक्त है।

7. काक्वाक्षिप्तव्यंग्य : जब काकु अर्थात् ध्वनि को विशेष प्रकार से परिवर्तित कर व्यंग्यार्थकी सहायता से वाच्यार्थ को समझना अत्यन्त सुगम हो जाता है, तब उसे काक्वाक्षिप्तव्यंग्य कहते हैं। जैसे–

'हैं दससीस मनुज रघुनायक ?
जिनके हनूमान से पायक।' **–रामचरितमानस**

यहाँ काकु से-विशेष ध्वनि से यह स्पष्ट हो जाता है कि राम साधारण मानव नहीं परमेश्वर हैं।

8. असुन्दरम् : जब व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से भी कम चमत्कारक प्रतीत होता है, तब उसे 'असुन्दरम्' कहा जाता है। जैसे–

'बैठी गुरुजन बीच में सुनि मुरली की तान।
मुरझति अति अकुलाय उर परै साँकरे प्रान।।'

यहाँ वाच्यार्थ– बाला का मसोसकर मुरझा जाना अधिक सुन्दर है व्यंग्यार्थ– कृष्ण से मिलने के लिए जाने में असमर्थ हो जाने से।

यही गुणीभूत काव्य का सच्चा स्वरूप है, क्योंकि इसमें व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से मनोहर नहीं रह जाता।

4.3.3 चित्रकाव्य

जिस काव्य में व्यंयार्थ के बदले अलंकारों की ही चमत्कार प्रदर्शित हो, उसे चित्रकाव्य कहा जाता है। वस्तुतः, रस के अभाव में अलंकार प्रदर्शन सच्चे भावक को प्रभावित नहीं कर पाता।

आचार्य आनन्दवर्धन और आचार्य विश्वनाथ ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि चित्रकाव्य को काव्य ही नहीं माना जा सकता। काव्य अलंकारों के प्रदर्शन के लिए नहीं लिखा जाता। उसमें अर्थ-गम्भीर्य का रहना अनिवार्य है।

फिर भी, अलंकारों के स्वरूप के अनुसार कुछ विद्वानों ने चित्रकाव्य के दो भेद बताए हैं :

(क) शब्दचित्र
(ख) अर्थचित्र

(क) शब्दचित्र : जब काव्य में शब्दालंकार का चमत्कार प्रदर्शित होता है, तब उसे शब्दचित्र कहा जाता है। जैसे–

'लोक लीक नीक लाज ललित से नँदलाल
लोचन ललित लोल लीला के निकेत हैं।'

यहाँ केवल अनुप्रास के प्रति कवि का प्रबल आग्रह है।

(ख) अर्थचित्र : जब काव्य में अर्थालंकार का चमत्कार प्रदर्शित होता है, तब उसे अर्थचित्र कहा जाता है। जैसे–

'अधरों के मधुर कगारों में कल-कल ध्वनि के गुंजारों में
मधु सरिता-सी यह हँसी तरल अपनी पीते रहते हो क्यों ?

–कामायनी

यहाँ सौंदर्य-चित्र अपना विशिष्ट अर्थ रखता है।

4.3.4 ध्वनि

गुणीभूत व्यंग्य और अलंकार को आधार मानकर पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के चार भेदों का प्रतिपादन किया है :

(क) उत्तमोत्तम काव्य
(ख) उत्तम काव्य
(ग) मध्यम काव्य
(घ) अधम काव्य।

आचार्य जगन्नाथ के विचार से ध्वनिकाव्य उत्तमोत्तम, गुणीभूतव्यंग्य काव्य उत्तम, अर्थचित्र मध्यम और शब्दचित्र अधम काव्य होता है। परन्तु, इन काव्य-भेदों से काव्य का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। काव्य-विवेचन के संदर्भ में किसी काव्य को अत्युत्कृष्ट अथवा निकृष्ट कहा जा सकता है। काव्य-भेद के लिए इस प्रकार का नामकरण बहुत युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता।

4.4 गौण आधार पर काव्य-भेद

9.4.1 भाषा के आधार पर आचार्य दण्डी ने काव्य के तीन भेद बताए हैं :

(क) संस्कृत काव्य
(ख) प्राकृत काव्य
(ग) अपभ्रंश काव्य।

आचार्य रुद्रट ने भाषा के आधार पर काव्य के और तीन भेदों-मागध, पिशाच और शूरसेन की चर्चा की है।

परन्तु, भाषा के अनुसार तो काव्य के सैकड़ों भेद बताए जा सकते हैं। इसलिए, काव्य-भेद का यह आधार बहुत प्रचलित नहीं हुआ। यह भेद भाषान्तर के सन्दर्भ में उपयुक्त माना जाता है।

◆◆◆

शब्द-शक्ति

पाठ-संरचना

5.1.1 शब्द शक्ति की परिभाषा और स्वरूप
शब्द शक्ति के प्रकार
अभिधा
लक्षणा
व्यंजना
5.1.2 अभिधा
5.1.3 संकेतग्रह
जाति
गुण
क्रिया
यदृच्छा
5.1.4 संकेतग्रह के साधन
व्यवहार
व्याकरण
उपमान
कोश
आप्तवाक्य
वाक्यशेष
विवरण
ज्ञातपद का सान्निध्य
5.2.1 अभिधा शब्दशक्ति का क्षेत्र (अर्थ-निर्धारण के सहायक तत्त्व)
संयोग
वियोग
साहचर्य
विरोध
प्रयोजन
प्रसंग
चिह्न

सामर्थ्य

औचित्य

देश

काल

व्यक्ति

स्वर

अन्य

5.2.2 संकेतग्रह के बाधकतत्त्व

समानाधिकरण का अभाव

अर्थ-विस्मरण

भ्रान्त अर्थबोध

अनभ्यास

अस्पष्टता

एकाग्रता का अभाव

अभिनव

5.1.1 शब्दशक्ति की परिभाषा और स्वरूप

जिस शक्ति से शब्द का अर्थ ग्रहण किया जाता है, उसे शब्दशक्ति कहते हैं।

तत्त्वतः, शब्द और अर्थ अभिन्न हैं। इनके विलक्षण सम्बन्ध को वाच्य-वाचक-सम्बन्ध, बिम्ब-प्रतिबिम्ब-सम्बन्ध और अन्योन्याश्रय सम्बन्ध कहा जाता है। इन तीनों सम्बन्धों का मूल अभिप्राय एक ही है। कारण यह कि शब्द और अर्थ प्रकाश्य और प्रकाशक की भाँति परस्पर सम्बद्ध हैं। सम्बन्ध के अभाव में शब्द-प्रयोग और अर्थग्रहण की प्रक्रिया नहीं चल सकती। इसी से शब्द-शक्ति में सम्बन्ध ही सबसे महत्त्वपूर्ण होता है :

'शब्दार्थसम्बन्धः शक्तिः।'

अर्थ की अवधारणा शब्द-प्रयोग के लिए अनिवार्य हो जाती है। जैसे, 'सफलता' में वाच्य अर्थात् किसी भाव या विचार की अवधारणा है, इसलिए 'सफलता' शब्द उसका वाचक भी है। परन्तु यदि 'सफलता' कहा जाए, तो लोक में उसकी अवधारणा नहीं रहने से उस वाचक शब्द को भी ग्रहण नहीं किया जाएगा। तात्पर्य यह कि परिवेश-प्रचलित वस्तु, भाव, विचार के अनुरूप प्रयुक्त ध्वनि को ही शब्द कहा जाता है :

'प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्दः इत्युच्यते।'

–महाभाष्य, पतञ्जलि।

इस प्रकार, स्पष्ट है कि शब्दशक्ति ही अर्थग्रहण कराती है। यदि शब्दज्योति न रहे, तो सभी लोक अन्धकार में अपना अस्तित्व खो देंगे :

'इदमन्धंतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥

–काव्यादर्श, 1.4., दण्डी

शब्दशक्ति तीन प्रकार की मानी गई है :

1. अभिधा
2. लक्षणा
3. व्यंजना

कुमारिल भट्ट के अनुयायियों ने 'तात्पर्यवृत्ति' नाम से एक पृथक् शब्दशक्ति की विवेचना पर भी बल दिया है। परन्तु, वह अधिक प्रचलित नहीं है।

अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शक्तियों की अभिव्यक्ति के लिए जो शब्द व्यवहृत होते हैं, उन्हें क्रमशः वाचक, लक्षक और व्यंजक शब्द कहा जाता है। इन शब्दों से जो अर्थ गृहीत होते हैं, वे वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ कहे जाते हैं।

यहाँ एक बात का स्पष्टीकरण आवश्यक है। 'वाचक' शब्द ही अवस्था-भेद से कभी लक्षक हो जाता है, तो कभी व्यंजक बन जाता है। यह शब्द-प्रयोक्ता की क्षमता और उसके प्रयोजन पर निर्भर है कि वह अभिधा में उसका प्रयोग करना चाहता है या लक्षणा में अथवा व्यंजना में। वाचक शब्द लक्षक अथवा व्यंजक हो ही जाए, ऐसी कोई अनिवार्य शर्त नहीं है। वैसे व्यंजक शब्द के लिए सभी स्थितियों में वाचक होना भी आवश्यक नहीं है, पर सभी लक्षक शब्द निश्चित रूप से वाचक भी रहते ही हैं।

अब क्रमशः अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का परिचय दिया जा रहा है।

5.1.2 अभिधा

अभिधा वह शब्दशक्ति है, जिससे साक्षात् संकेतित अर्थ का बोध होता है।

ध्यातव्य है कि साक्षात् संकेतित अर्थ का बोधक ही वाचक कहलाता है :

'साक्षात् संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः।'

–काव्यप्रकाश, आचार्य मम्मट

वाचक शब्द तीन प्रकार के माने गए हैं : 1. रूढ़ 2. यौगिक और 3. योगरूढ़। रूढ़ शब्द प्रकृति-प्रत्यय की सीमा में आबद्ध होकर निश्चित बना रहता है, उसमें परिवर्तन नहीं होता। यौगिक शब्द का अर्थ व्युत्पत्तिपरक हुआ करता है और योगरूढ़ शब्द व्युत्पत्तिसिद्ध अनेक अर्थों में से किसी विशिष्ट अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। पेड़, गधा, घोड़ा आदि रूढ़ शब्द हैं, भूपति, घुड़सवार, धनवान् आदि यौगिक शब्द हैं और गणनायक, पंकज आदि योगरूढ़ शब्द हैं।

5.1.3 संकेतग्रह

जो शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को बताए, उसे संकेतग्रह कहते हैं।

संकेतग्रह को स्पष्टतया समझने के लिए उसके स्थल और साधनों-कारणों की मीमांसा अत्यावश्यक है। यहाँ अत्यन्त संक्षेप में इनके विवेचन करना ही अभीष्ट है।

किस शब्द का संकेत किस अर्थ में हुआ है, यह हम शब्द की शक्ति द्वारा ही समझ पाते हैं। दूसरे शब्दों में, अर्थ सदा संकेतित ही होता है। परन्तु, प्रश्न यह उठता है कि संकेत कहाँ किया गया है, इस बात का निश्चय कर लिया जाए। इस सम्बन्ध में विद्वान् एकमत नहीं हैं– यदि विद्वान एकमत हो जाएँ, तो फिर उनकी विद्वता का प्रभाव कैसे स्थापित हो सकेगा? फिर भी, विशिष्ट आचार्यों द्वारा संकेतग्रह के स्थल निर्दिष्ट कर दिए गए हैं। व्यक्ति में संकेत मानना तो दोषपूर्ण माना गया है, इसलिए उस पर अधिक बल भी नहीं दिया गया है।

महर्षि पतञ्जलि ने जाति, गुण, क्रिया और यादृच्छा में संकेत का होना सुनिश्चित किया है :

'चतुष्टयी शब्दानां जातिशब्दाः क्रियाशब्दाः यदृच्छाशब्दाश्चेति।'

–महाभाष्य

आचार्य मम्मट ने भी महर्षि पतञ्जलि के ही मत का समर्थन किया है :

'संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यार्जातिरेव वा।'

जाति :

जाति में संकेत मान लेने पर आनन्त्य और व्यभिचारी दोषों के लिए स्थान ही नहीं रह जाता। जाति ही शब्द-संकेत को सुव्यवस्थित और सुनिश्चित करती है। इसलिए, जाति में संकेत मान लेना ही उचित है। जैसे, गाय इसलिए गाय है वह गोत्व-रूप जाति का प्रतिनिधित्व करती है।

गुणः

गुण के कारण संकेत सुनिश्चित हो जाता है, इसलिए अर्थज्ञान में कोई व्यवधान नहीं होता। जैसे, 'काली गाय' कहने से संकेत पूर्णतः स्पष्ट है, क्योंकि उससे उजली गाय, लाल गाय आदि का संकेत नहीं होता– सम्बन्धज्ञान भ्रम रहित हो जाता है।

क्रिया :

क्रिया भी संकेत को स्पष्ट कर देती है। मोहन मुम्बई गया और सोहन अभी दिल्ली जा रहा है, में काल-स्थान निर्धारण-सम्बन्धी संकेतित अर्थ पूर्णतः स्पष्ट है।–भ्रांति-रहित।

यदृच्छा :

यादृच्छिकता भाषा की प्रमुख विशेषता मानी गई है। भाषा-प्रयोक्ता निश्चित अर्थ-द्योतन के लिए ही अपनी इच्छा के अनुकूल शब्द से संकेत करता है। राम, सोहन, गाय, बैल, हाथी, हिमालय, गंगा, यमुना आदि शब्द के संकेतित अर्थ बहुत स्पष्ट हैं।

ज्ञातव्य है कि मीमांसक, नैयायिक और बौद्ध में संकेत के स्थल को लेकर अन्ततः विवाद चलता ही रहा है। मीमांसक केवल जाति में संकेत का होना उचित मानते हैं, नैयायिक और बौद्ध जाति में संकेत मानना उचित नहीं समझते।

परन्तु, काव्यशास्त्र की दृष्टि से–विशेषतः पतंजलि और आचार्य मम्मट के मत पर विचार करने से यही कहा जा सकता है कि शब्द का संकेत जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया में होती है :

5.1.4 संकेतग्रह के साधन (कारण)

संकेतग्रह के साधनों में व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, व्यवहार, वाक्यशेष, विचरण, ज्ञातपद का सान्निध्य आदि प्रमुख हैं। इनमें व्यवहार सबसे महत्त्वपूर्ण साधन माना जाता है।

व्यवहार :

व्यवहार से संकेत-ग्रहण अधिक सुगम एवं सुनिश्चित हो जाता है। यह 'पुस्तक है' और वह 'कलम है' का संकेत ज्ञान व्यवहार से ही प्राप्त होता है। व्यवहार में न आने से शब्दों की जीवन्तता ही समाप्त हो जाती है।

व्याकरण :

व्याकरण शब्दों को निश्चित स्वरूप प्रदान करता है, इसलिए उन शब्दों का संकेत भी सुनिश्चित और स्पष्ट हो जाता है। जैसे 'पीताम्बर' का अर्थ कहाँ पीला वस्त्र होगा और कहाँ वह भगवान विष्णु का बोधक बन जाएगा, यह उसके विग्रह ही पर निर्भर है और समास का विग्रह व्याकरण का ही विषय है। कर्मधारय में पीताम्बर का अर्थ 'पीला वस्त्र' होगा और बहुव्रीहि में– पीत है वस्त्र जिसका कहने से विष्णु का ही बोध होता है, किसी और का नहीं।

उपमान :

सादृश्य-प्रतिपादन से संकेत-ग्रहण में सुविधा होती है– उसका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। 'हिमालय के समान व्यक्तित्व' कहने से व्यक्तित्व की दृढ़ता अधिक स्पष्टता से संकेतित हो जाती है।

कोश :

संकेत-ग्रहण में कोश अत्यन्त सहायक होता है। जैसे, 'कोकनद' को स्पष्ट करने में अमरकोश के 'रक्तोप्वल कोकनदम्' से पर्याप्त सहायता मिल जाती है। अब विद्यापति के शब्द-संकेत को समझने में– 'जलद-जोग फुलकोका' के 'कोकाफूल' को कुमुदिनी मानने का भ्रम नहीं हो सकता, जैसा कि कुछ भाष्यकारों को हुआ है अर्थात् वह निश्चित रूप से रक्तपुष्प-लाल फूल ही होता है, उजला फूल नहीं।

आप्तवाक्य :

आप्तवाक्य से तात्पर्य है विशिष्ट और मान्य विद्वान का कथन। कवि सुमित्रानन्दन पंत ने 'रेडियो' के लिए 'आकाशवाणी' शब्द का प्रयोग कर उसे मान्य 'वाचकशब्द' के रूप में सुप्रतिष्ठित कर दिया।

वाक्यशेष :

'पंडितजी ने कहा था– भारत के प्रथम प्रधान-मंत्री जवाहरलाल नेहरू ने।' मैं अंतिम वाक्यांश से अर्थ पूर्णतः स्पष्ट हो गया है।

विवरण :

व्याख्या अथवा विश्लेषण से संकेतग्रहण आसान हो जाता है। 'कामायनी' में प्रयुक्त सन्धिपत्र को 'स्नेहमाधुर्य-ममता से सिक्त पत्र' कह देने से उसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

ज्ञातपद का सान्निध्य :

'भागवत में शुक-वाणी' कहने से 'शुकदेवजी के वचन' का ही अर्थ ग्रहण किया जाएगा, सामान्य सुग्गे की वाणी का नहीं। कारण यह कि यहाँ ज्ञात 'भागवत' पद और शुकदेवजी में घनिष्ठ सम्बन्ध है।

इस प्रकार, उपर्युक्त कारणों से संकेत ग्रहण सुगम हो जाता है और वाचक शब्द का मुख्यार्थ भी निर्विवाद रूप से मान्य बन जाता है।

5.2.1 संकेतग्रह के साधक तत्त्व

अभिधा शब्दशक्ति का क्षेत्र :

(शब्दों के अर्थ-निर्धारण के सहायक तत्त्व)

अर्थ-निर्धारण के साधनों को निश्चित करना आसान नहीं है। फिर भी, उसके कुछ प्रमुख सहायक तत्त्वों का विवेचन किया जा रहा है, जिनसे शब्द का अर्थ-निर्धारण स्पष्टतया कर लिया जाता है :

1. संयोग :

अन्य शब्द के संयोग से किसी शब्द के अनेक अर्थों में से एक अर्थ सुनिश्चित हो जाता है। जैसे, 'हंस-वाहिनी देवी' के चरणों में कोटिश: प्रणाम। यहाँ, 'देवी' के पहले 'हंसवाहिनी' शब्द का संयोग हो जाने से निश्चित रूप से विद्या की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती का ही बोध होता है, किसी अन्य देवी का नहीं।

2. वियोग :

'सैन्धव-विहीन व्यंजन' कहने से 'सैन्धव' का अर्थ नमक ही होगा, घोड़ा नहीं। उल्लेख है कि सैन्धव शब्द का प्रयोग घोड़े के लिए भी होता है। परन्तु, व्यंजन के साथ 'घोड़ा' शब्द की संगति यहाँ नहीं बैठती।

3. साहचर्य :

'बलि बलि जाऊँ कृष्ण बल भैया' में कृष्ण के साहचर्य के कारण बल का अर्थ बलराम ही होगा, दूसरा नहीं। –वैसे 'बल' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं।

4. विरोध :

'कुंजर और हरि में भयंकर लड़ाई हो रही थी।'– इस वाक्य में कुंजर (हाथी) से हरि (सिंह) का विरोध होने से 'हरि' का अर्थ सिंह सुनिश्चित है, जबकि हरि के अनेक अर्थ होते हैं।– विष्णु, बन्दर आदि।

5. प्रयोजन :

पढ़ाई पूरी कर रोटी की खोज करो।– इस वाक्य में 'रोटी' शब्द से आजीविका का अर्थ-द्योतन होता है, क्योंकि पढ़ाई के पश्चात् मुख्य समस्या आजीविका की है।

6. प्रसंग :

प्रसंग अर्थ का मुख्य निर्धारक हुआ करता है।– परीक्षार्थी से पूछने पर कि 'कैसा पत्र था ?' का अर्थ होगा, प्रश्नपत्र, डाकघर या दूसरी जगह से आई चिट्ठी नहीं।

7. चिह्न :

निर्देश को चिन्ह कहते हैं। शब्द से जैसा निर्देश होता है, उसका अर्थ भी वैसा ही ग्रहण किया जाता है। जैसे, पेड़ की डाल पर कलरव करनेवाले द्विज' में 'द्विज' पक्षी का ही वाचक है, ब्राह्मण या दाँत अथवा किसी अन्य वस्तु का नहीं, क्योंकि उसका निर्देश स्पष्टतया पक्षी के लिए किया गया है।

8. सामर्थ्य :

सामर्थ्य का अर्थ है मूल आधार, जो अर्थ-निर्धारण का प्रधान कारण बनता है। जैसे, 'निर्बल के बल राम' में राम का अर्थ 'विष्णु अवतार-रूप राम' ही है, कोई अन्य रामनामधारी नहीं।

9. औचित्य :

शब्दों के उचित प्रयोग से अर्थ भी सुनिश्चित हो जाते हैं। 'गोली की आवाज से पेड़ की डालों पर बैठे सभी द्विज एक साथ उड़ गए।' यहाँ 'द्विज' शब्द निश्चित रूप से पक्षियों के लिए प्रयुक्त हुआ है और उसके अर्थ-ग्रहण में भी कोई द्विविधा नहीं होती।

10. देश :

देश शब्द स्थान के लिए प्रयुक्त है। स्थान निश्चित रहने से शब्द का अर्थ भी सुनिश्चित हो जाता है। उदाहरणार्थ देव शब्द को लें। 'देव' शब्द का अर्थ कहाँ 'देवता' होगा और कहाँ 'राजा' यह देश अर्थात् स्थान पर निर्भर है। मंदिर में 'देव' शब्द देवता का वाचक है, तो राजप्रासाद में 'राजा' का।

11. काल :

समय भी अर्थ-निर्धारण में सहायक होता है। 'चित्रभानु' शब्द 'सूर्य' का वाचक है और साथ ही 'अग्नि' का भी। परन्तु, जब हम कहते हैं कि 'मध्य दिवस में चित्रभानु का ताप बहुत बढ़ गया था', तब काल-सम्बद्ध होने अर्थात् 'मध्यदिवस' की चर्चा से 'चित्राभानु' का अर्थ सूर्य ही सुनिश्चित हो गया है।

12. व्यक्ति :

यहाँ व्यक्ति से अभिप्राय लिंग-भेद है। इससे भी अर्थ के निश्चय में बड़ी सहायता मिलती है। जैसे, 'टीका' शब्द को देखें :

1. आचार्य विश्वेश्वर ने काव्यप्रकाश की टीका लिखी।

2. गुरु वसिष्ठ ने राम को टीका लगाया।

पहले वाक्य में 'टीका' शब्द स्त्रीलिंग है और इसीलिए उसका अर्थ 'भाष्य' ग्रहण किया जाता है।

दूसरे वाक्य में 'टीका' शब्द पुल्लिंग है इसी से उसका अर्थ 'तिलक' ग्रहण करने में कोई द्विविधा नहीं होती।

13. स्वर :

उच्चारण भाषा का प्राण तत्त्व है। इसलिए, उच्चारण अर्थ-निर्धारण में प्रमुख साधक तत्त्व बन जाता है। जैसे– मैं वहाँ जाऊँगा।– विध्यात्मक अर्थ।
मैं वहाँ जाऊँगा ? निषेधात्मक अर्थ।

–उच्चारण-भेद से ही यहाँ विधि-निषेध-जन्य अर्थ ग्रहण करना सम्भव हुआ है।

14. अन्य :

अन्य कारणों में तान, मात्रा आदि की चर्चा की जाती है।

5.2.2 संकेतग्रह के बाधक तत्त्व

साधक तत्त्व के साथ-साथ अर्थज्ञान के बाधक तत्त्व भी होते हैं। काव्यशास्त्र में इन तत्त्वों का भी सुगम्भीर विवेचन किया गया है। जैसे–

1. समानाधिकरण्य का अभाव :

इसका अभिप्राय यह है कि जब वक्ता-श्रोता दोनों भाषा के स्तर पर, बौद्धिक स्तर पर और भावात्मक स्तर पर समान अथवा लगभग समान नहीं रहेंगे, तब अर्थग्रहण भी ठीक-ठीक नहीं हो पाएगा। जो व्यक्ति जिस भाषा को नहीं जानता, जिस विषय से परिचित नहीं रहता और जिसे भाव-विचार को ग्रहण करने की पूरी क्षमता नहीं होती, उसके सामने उस भाषा में, उस विषय पर और विचार की ऊँचाई पर बोलने से उसे अर्थज्ञान कैसे होगा ?

2. अर्थ-विस्मरण :

भूलना भी मनुष्य का मुख्य स्वभाव है। जिन शब्दों को व्यक्ति भूल जाता है, उनके अर्थ-ग्रहण में बाधा पड़ती ही है। 'आर्तव' और 'आर्जव' जैसे शब्दों के अर्थबोध में अनेक लोगों को कठिनाई होती है। 'ऋतु' से आर्तव का सम्बन्ध जोड़ना और ऋजु' से 'आजर्व' की संगति बैठाना साधारणतया दुष्कर कार्य है।

3. भ्रान्त अर्थ बोध :

गलत सीखने का परिणाम बड़ा भयंकर होता है। 'सिसृक्षा' का अर्थ 'सिर का बाल' समझना भ्रामक है। उसका अर्थ होता है सृष्टि की अभिलाषा।

4. अनभ्यास :

बिना अभ्यास से विद्या विष हो जाती है। शब्द-अर्थ की आवृत्ति के बिना संकेतग्रहण में जब-तब बाधा पड़ेगी ही।

5. अस्पष्टता :

जो शब्द अतिनिकटा, अतिदूरता अथवा इन्द्रिय-असमर्थता से स्पष्टतया सुनाई ही नहीं पड़ेगा, उसका संकेतग्रहण क्या और कैसे होगा?

6. एकाग्रता का अभाव :

ध्यान को केन्द्रित नहीं रखने पर किसी शब्द का कोई संकेतग्रहण नहीं होगा।

7. अभिनव :

यहाँ अभिनव से तात्पर्य है एक ध्वनि को दूसरी ध्वनि से दबा देना। शंख बजाकर कृष्ण ने युधिष्ठिर की ध्वनि को दबाकर द्रोणाचार्य के अर्थग्रहण को बाधित कर दिया था।

◆◆◆

लक्षणा

पाठ-संरचना

5A.1.1 लक्षणा की परिभाषा
परिभाषा का विश्लेषण
मुख्यार्थबाध
रूढ़ि या प्रयोजन
मुख्यार्थ के साथ अन्य अर्थ का सम्बन्ध
5A.1.2 लक्षणा के भेद
रूढ़ा लक्षणा
प्रयोजनवती लक्षणा
गौणी
शुद्धा
गौणी उपादान लक्षणा
गौणी लक्षण लक्षणा
गौणी सारोपा
गौणी साध्यवसाना
शुद्धा उपादान लक्षण
शुद्धा लक्षण लक्षणा
शुद्धा सारोपा
शुद्धा साध्यवसाना
5A.1.3 विशेष

5A.1.1 लक्षणा की परिभाषा

लक्षणा शब्द की वह विशिष्ट शक्ति ह ी है, जो मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ लक्षित करती है। आचार्य मम्मट ने लक्षण की परिभाषा इस प्रकार दी है :

'मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढ़ितोऽर्थप्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ।।'

–काव्यप्रकाश, 2/9

अर्थात् मुख्य अर्थ के बाधित होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण जिस क्रिया (शक्ति) द्वारा मुख्यार्थ से सम्बन्ध रखनेवाला अन्य अर्थ द्योतित हो, उसे लक्षणा कहते हैं। स्पष्ट है कि मम्मटाचार्य ने लक्षणा के लिए तीन शर्तें अनिवार्य बतायी हैं–

1. मुख्यार्थ-बाध,
2. रूढ़ि या प्रयोजन
3. मुख्यार्थ के साथ अन्य अर्थ का संबंध

1. मुख्यार्थ-बाध :

अन्य अर्थ की प्रतीति के लिए मुख्य अर्थ में बाधा पड़ना लक्षणा की पहली शर्त्त है। उदाहरण के लिए 'चन्द्रशेखर आजाद शेर था' में शेर का मुख्यार्थ हिंसक पशु बाधित है और अन्यार्थ है– 'राष्ट्रवीर'।

2. रूढ़ि या प्रयोजन :

मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ के द्योतन में या तो रूढ़ि काम करती है या फिर उसका कोई विशेष प्रयोजन होता है। ऊपर के उदाहरण में चन्द्रशेखर आजाद को शेर कहने में वक्ता का मुख्य प्रयोजन उसकी अतिशय वीरता को निदर्शित करना है।

3. मुख्यार्थ के साथ अन्य अर्थ का संबंध :

मुख्यार्थ में बाधा उपस्थित होने पर जिस अन्य अर्थ को ग्रहण किया जाता है, उसमें और मुख्यार्थ में किसी-न-किसी प्रकार का संबंध अत्यन्त आवश्यक है। जैसे, चन्द्रशेखर आजाद और शेर में वीरता-जन्य गुण-साम्य है।

'साहित्यदर्पण' में आचार्य विश्वनाथ ने 'काव्यप्रकाश' का अनुसरण कर ही लक्षणा की परिभाषा गढ़ी है। इस प्रकार, उसमें कोई नई बात नहीं जोड़ी गई है। हाँ, उन्होंने 'क्रिया' के बदले 'शक्ति' का प्रयोग किया है।

5A.1.2 लक्षणा के भेद

लक्षणा के भेदों की संख्या और भेद-उपभेद की क्रमबद्धता को लेकर आचार्यों में मतवैभिन्य है। ऐसे मतभेद एक ही लक्षणा के अर्थ, पदसंख्या, पदसम्बन्ध, धर्म-धर्मी आदि भिन्न-भिन्न आधारों द्वारा विश्लेषण के कारण उत्पन्न हुए हैं।

आचार्य मम्मट के अनुसार लक्षणा-व्यापार के दो कारण हैं– रूढ़ि और प्रयोजन। इसी आधार पर लक्षणा के दो मुख्य भेद स्वीकार किए गए हैं :

1. रूढ़ा लक्षणा
2. प्रयोजनवती लक्षणा।

1. रूढ़ा लक्षणा :

मुख्यार्थ-व्यवधान होने पर जब अन्यार्थ की प्रतीति रूढ़ि के द्वारा कराई जाए, तब रूढ़ा लक्षणा होती है। दूसरे शब्दों में, जहाँ किसी रूढ़ि अथवा अतिप्रसिद्धि के कारण कोई शब्द किसी लक्ष्यार्थ का बोध कराता है, वहाँ रूढ़ा लक्षणा होती है। 'साहित्यदर्पण' में रूढ़ा लक्षणा का एक प्रसिद्ध उदाहरण है : 'कलिंग-साहसिकः' अर्थात् 'कलिंग साहसी है'। यहाँ कलिंग से तात्पर्य एक प्रदेश न होकर वहाँ के वासियों से है। यह अन्यार्थ प्रयोग के कारण प्रचलित है, अतः इसमें रूढ़ा लक्षणा है।

उल्लेख्य है कि आचार्य विश्वनाथ ने रूढ़ा लक्षणा के भी भेदोपभेद बताए हैं। परन्तु, चूँकि रूढ़ा लक्षणा के भेदों में विशिष्टता नहीं दिखती, इसलिए प्रयोजनावती लक्षणा के भेदोपभेद का विश्लेषण ही अपेक्षित है।

2. प्रयोजनवती लक्षणा :

प्रयोजनवती लक्षणा वह है, जिसमें किसी विशेष प्रयोजन के कारण मुख्यार्थ-व्यवधान द्वारा लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है। जैसे–

'गंगा पर घर है।'

–यहाँ मुख्यार्थबाध है, क्योंकि गंगा पर घर नहीं होता। प्रयोजन है गंगा-तट पर घर होने का भाव लक्षित करना।

प्रयोजन लक्षणा के भेद :

प्रयोजन लंक्षणा के दो प्रमुख भेद हैं :

1. गौणी
2. शुद्धा

गौणी लक्षणा :

जब सादृश्य के कारण मुख्यार्थ-लक्ष्यार्थ में संबंध हो, तब गौणी लक्षणा होती है। यथा– 'चरन सरोज पखारन लागा।'

यहाँ 'चरन' एवं 'सरोज' दोनों में सादृश्य सम्बन्ध है। कोमलता तथा लालिमा के कारण अभेद की प्रतीति कराई गई है।– कोमल चरण को लक्षित करना ही कवि का अभीष्ट है।

शुद्धा लक्षणा :

जब सादृश्येतर सम्बन्धों- सामीप्य, तादर्थ्य, कारण-कार्य आदि से लक्ष्यार्थ की प्रतीति हो, तब उसे शुद्धा लक्षणा कहते हैं। यथा–

'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी।
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।'

–मैथिलीशरण गुप्त

यहाँ आँचल में दूध कहने से मुख्यार्थ बाध है। अतएव, सामीप्य सम्बन्ध द्वारा लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है कि स्तन में दूध है। इस प्रकार, प्रगाढ़ मातृत्व-जन्य भाव को लक्षित करना ही कवि का मुख्य प्रयोजन है।

आचार्य विश्वनाथ ने गौणी तथा शुद्धा के चार-चार उपभेद किए हैं। इस प्रकार, प्रयोजनवती लक्षणा के कुल आठ भेद विवेचनीय हैं–

1. गौणी उपादान लक्षणा
2. गौणी लक्षण लक्षणा
3. गौणी सारोपा
4. गौणी साध्यवसाना
5. शुद्धा उपादान लक्षणा
6. शुद्धा लक्षण लक्षणा
7. शुद्धा सारोपा
8. शुद्धा साध्यवसाना।

1. गौणी उपादान लक्षणा :

जब कोई पद अपने मुख्यार्थ को पूर्णतः न छोड़कर लक्ष्यार्थ का भी आक्षेप कर लेता है, तब उपादान लक्षणा होती है। जैसे–

'स्वर्गलोक की तुम अप्सरि थीं
तुम वैभव में पली हुई थीं।'

–हरिकृष्ण प्रेमी

यहाँ 'तुम' ओर 'अप्सरि' में सादृश्य-संबंध के कारण गौणी और 'अप्सरि' का लक्ष्यार्थ 'मनमोहिनी' होने से उपादान लक्षणा है। इस प्रकार, प्रस्तुत पद में गौणी उपादान लक्षणा है।

2. गौणी लक्षण लक्षणा :

जब कोई पद वाक्य के अर्थ की सिद्धि के लिए मुख्यार्थ का त्याग कर लक्ष्यार्थ ग्रहण कर लेता है, तब लक्षणलक्षणा होती है। जैसे–

'स्वर्ण-किरण-कल्लोलों पर बहता रे यह बालक मन।'

–निराला ।

यहाँ 'किरण' और 'कल्लोल' में सादृश्य-संबंध से 'गौणी' है। 'किरण' को कल्लोल बना देने से मन के मुख्यार्थ का त्याग हो गया है, अतः लक्षण लक्षणा है।

3. गौणी सारोपा :

जहाँ उपमेय और उपमान दोनों का शब्द द्वारा निर्देश हो, वहाँ सारोपा लक्षणा होती है। जिस सारोपा लक्षणा में किसी प्रयोजना की सिद्धि के लिए मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सादृश्य-संबंध हो, उसे गौणी सारोपा कहते हैं। जैसे–

'चरन-सरोज पखारन लागा।'

– रामचरितमानस

यहाँ 'चरन' उपमेय और 'सरोज' उपमान दोनों का शब्द द्वारा निर्देश होने के कारण सारोपा है और चूँकि 'चरन' तथा 'सरोज' दोनों में सादृश्य-संबंध है, इसलिए 'चरन-सरोज' में गौणी सारोपा है। वस्तुतः, राम के चरणों की अतिशय कोमलता को बताना ही कवि का प्रयोजन है। अतः, यह प्रयोजनवती लक्षणा का एक भेद-गौणी सारोपा है।

4. गौणी साध्यवसाना :

अध्यवसान से तात्पर्य है केवल उपमान का कथन, उपमेय का नहीं। इसमें विषय अर्थात् उपमेय को छिपा दिया जाता है। अध्यवसान का अर्थ ही है छिपा देना।

जहाँ आरोप्य अर्थात् उपमेय का शब्द द्वारा निर्देश न होकर, केवल आरोप्यमाण अर्थात् उपमान का ही कथन हो, वहाँ साध्यवसाना होती है। गौणी साध्यवसाना में प्रयोजन विशेष के कथन की लालसा से, मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सादृश्य-सम्बन्ध बनाये रखकर, वक्ता द्वारा सिर्फ उपमान का ही कथन होता है। जैसे–

'आचार्य ! देखों तो नया वह सिंह सोते से जगा।'

यहाँ 'सिंह' उपमेय ने 'अभिमन्यु' उपमान का सर्वथा अध्यवसान कर लिया है। अतः, यहाँ गौणी साध्यवसाना लक्षणा है।

5. शुद्धा उपादान लक्षणा :

इसे अजहत्स्वार्था भी कहते हैं। इसमें लाक्षणिक पद लक्ष्यार्थ की प्रतीति में मुख्यार्थ को भी गहण किए रहता है, उसका सर्वथा त्याग नहीं करता। अजहत्स्वार्था का अर्थ ही है मुख्यार्थ का त्याग न करना। जैसे–

'फूटी कौड़ी पर विनोदमय जीवन सदा टपकता।'

–निराला

यहाँ 'फूटी कौड़ी' का लक्ष्यार्थ है तुच्छ धन। इस लक्ष्यार्थ की प्रतीति में मुख्यार्थ का चूँकि सर्वथा त्याग नहीं हुआ है, अतः यहाँ अजहत्स्वार्था लक्षणा है। मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में सादृश्येतर संबंध के कारण शुद्धा है तथा अतिशय निर्धनता का बोध कराना प्रयोजन। अस्तु, प्रस्तुत पद में शुद्धा उपादान लक्षणा है।

6. शुद्धा लक्षणलक्षणा :

इसे जहत्स्वार्था भी कहते हैं। जहत्स्वार्था का अर्थ होता है मुख्यार्थ का त्याग कर देना। जब कोई पद वाक्य के अर्थ की सिद्धि के लिए मुख्यार्थ का त्याग कर लक्ष्यार्थ ग्रहण कर लेता है, तब लक्षणलक्षणा होती है। जैसे–

'आज भुजंगों से बैठे हैं वे कंचन के घड़े दबाए।'

–हरिकृष्ण प्रेमी

यहाँ 'भुजंग' (सर्प) का लक्ष्यार्थ 'धनसंग्राहक व्यक्ति' से है, जो सादृश्येतर तात्कर्म्य सम्बन्ध से प्राप्त हुआ, अस्तु इस पद में शुद्धा है। चूँकि यहाँ 'भुजंग' का मुख्यार्थ 'सर्प' सर्वथा अनभीष्ट है, इसलिए लक्षणलक्षणा है।

7. शुद्धा सारोपा :

इसमें प्रयोजनपूर्ण आरोप होता है तथा वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ के बीच सादृश्येतर सम्बन्ध होता है। जैसे–

'मो सम्पति यदुपति सदा, विपति विदारन हार।'

यहाँ कवि ने यदुपति को अपनी सम्पत्ति बताया है, अर्थात् यदुपति पर सम्पत्ति का आरोप है और चूँकि यदुपति को ही अपना सर्वस्व बताना कवि का प्रयोजन है, इसलिए यहाँ शुद्धा सारोपा लक्षणा है। सादृश्येतर–आश्रय–आश्रित सम्बन्ध है।

8. शुद्धा साध्यवसाना :

इसमें उपमान में उपमेय का अध्यवसान हो जाता है। साथ ही, मुख्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ में सादृश्येतर संबंध के कारण शुद्ध होती है। जैसे–

'अबला–जीवन हाय! तुम्हारी यही कहानी
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।'

–मैथिलीशरण गुप्त

यहाँ मुख्यार्थ 'आँचल' का लक्ष्यार्थ 'पयोधर' से योग सादृश्येतर-सामीप्य संबंध के कारण है, अस्तु शुद्धा है। चूँकि इसमें सिर्फ विषयी (आँचल) का कथन है, विषय (स्तन) का नहीं, इसलिए साध्यवसाना है।

इस प्रकार, लक्षणा के सभी प्रमुख भेदों का सोदाहरण विवेचन किया गया।

5A.1.3 विशेष

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (रस-मीमांसा पृ० 308) के अनुसार 'प्रयोजनवती लक्षणा रूढ़ि भी, हो सकती है। इसलिए, तीसरा भेद भी होना चाहिए।

शुक्लजी के अनुसार 'कभी-कभी लक्ष्यार्थ एकदम विपरीत अर्थ के रूप में होता है।' उन्होंने इसका उदाहरण दिया है :

'आपने बड़ा उपकार किया, सज्जनता की हद कर दी।'

लक्ष्यार्थ (शुक्लजी के अनुसार) 'अपकार और दुर्जनता।

मेरे विचार से उक्त कथन का अर्थ जब अपकार और दुर्जनाता' ग्रहण किया जाएगा, तब वह लक्षणा न होकर, व्यंजना हो जाएगी। कारण यह कि यहाँ शब्द से अर्थ-द्योतन नहीं होता, अर्थ से अर्थ द्योतित हो रहा है। लक्षणा लक्षित करने पर ही सीमित रह जाती है, व्यंजित करने की क्षमता उसमें नहीं होती।

◆◆◆

व्यञ्जना

पाठ-संरचना

5B.1.1 व्यंजना की परिभाषा और स्वरूप
5B.1.2 व्यंजना के भेद
शाब्दी व्यंजना
आर्थी व्यंजना
5B.1.3 शाब्दी व्यंजना के भेद :
अभिधामूला
लक्षणामूला
अभिधामूला : संयोग
वियोग
साहचर्य
सामर्थ्य
औचित्य
देश
लक्षणामूला व्यंजना
5B.2.1 आर्थीव्यंजना अथवा अर्थमूलक व्यंजना
5B.2.2 अर्थीव्यंजना के प्रकार
5B.2.3 अभिधा, लक्षणा और व्यंजना से सम्बद्ध विवादों का निराकरण
5B.3.1 अभिधा और लक्षणा
5B.3.2 लक्षणा और व्यंजना में अन्तर

5B.1.1 व्यंजना की परिभाषा और स्वरूप

अभिधा और लक्षणा जब अभीष्ट अर्थ को प्रकट करने में असमर्थ हो जाती है, तब जिस शक्ति से अर्थ प्रकाशित होता है, उसे व्यंजना कहते हैं। इसमें जो शब्द सूक्ष्म अर्थ का बोधक होता है, उसे व्यंजक शब्द कहा जाता है और जिस सूक्ष्म अर्थ का ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वह व्यंग्यार्थ कहलाता है।

शब्दशक्तियों में व्यंजना को उत्तम, लक्षणा को मध्यम और अभिधा को सामान्य माना गया है। इस मान्यता के पीछे निश्चय ही सूक्ष्मता का आधार काम कर रहा है। अभिधा सीधे कहती है। परन्तु, लक्षणा लक्षित करती है अर्थात् दिखाती है। कहने की अपेक्षा दिखाना अधिक सूक्ष्म अवश्य है। व्यंजना चूँकि प्रकाशित करती है, इसलिए वह लक्षणा से भी अधिक सूक्ष्म है।

वस्तुतः भाषा के कई स्तर होते हैं। स्थूल से सूक्ष्म स्तर पर आने पर लक्षणा और व्यंजना की

आवश्यकता होती है। शास्त्र चाहे जो भी हो, उसमें विश्लेषण की सूक्ष्मता को सर्वाधिक महत्त्व दिया जाता है। भौतिकशास्त्र, रसायन-शास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, जीवविज्ञान आदि में भी सूक्ष्मता के अन्वेषण-विश्लेषण पर सर्वाधिक ध्यान दिया जाता है। काव्यशास्त्र भी शब्द और अर्थ के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन पर अधिक बल देता है। इसी से व्यंजना, ध्वनि-व्यंजना, रस-व्यंजना आदि विषय इसके अध्ययन में अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

व्यंजना की सूक्ष्मता को निम्नांकित सुप्रसिद्ध उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है :

उसका घर गंगा पर है।

अभिधा साक्षात् संकेत कर इसका अर्थ स्पष्ट नहीं कर पाती, क्योंकि गंगा पर किसी का घर नहीं होता।

लक्षणा मुख्यार्थ में बाधा उपस्थित होने से यह लक्षित करती है कि 'उसका घर गंगा के किनारे है।'

इसमें सन्देह नहीं कि लक्षणा ने उक्त वाक्य का एक अन्य अर्थ-मान्य अर्थ लक्षित किया। परन्तु, फिर भी उस वाक्य का सूक्ष्म अर्थ प्रकट नहीं हो सका।

व्यंजना ने उस वाक्य की अर्ध-सूक्ष्मता को परखा और गंगा की आत्मा-पावनता को प्रकाशित किया। अर्थात्, 'उसका घर गंगा पर है' का व्यंजना-प्रतिपादित अर्थ हुआ– उसका घर अत्यन्त पावन है।

तत्त्वतः, उसके घर की पावनता को व्यंजित करना ही वाक्य-प्रयोक्ता का अभीष्ट था।

इस प्रकार, अभिधा और लक्षणा के असमर्थ हो जाने पर व्यंजना ही सूक्ष्म अर्थ का द्योतन करती है। इसी से उसकी महत्ता शब्दशक्तियों में सर्वोपरि मानी जाती है।

5B.1.2 व्यंजना के भेद

व्यंजना के दो भेद किए गए हैं :

1. शाब्दी व्यंजना,
2. आर्थी व्यंजना।

इन दोनों भेदों का नामकरण प्रधानता के आधार पर किया गया है। 'प्राध्यान्येन व्यपदेशा भवन्ति।' शब्द की अपेक्षा अर्थ का प्राधान्य होता ही है।

शाब्दी व्यंजना और आर्थी व्यंजना की पहचान के लिए सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि शाब्दी व्यंजना में शब्द अनेकार्थक होते हैं, जबकि आर्थी व्यंजना में शब्द एकार्थक होते हैं।

व्यंजना के सन्दर्भ में यह स्पष्टीकरण भी आवश्यक है कि शाब्दी व्यंजना की भाँति श्लेष में भी अनेकार्थक शब्द रहते हैं, पर श्लेष के दृष्टान्त को शाब्दी व्यंजना के दृष्टान्त के रूप में नहीं प्रस्तुत किया जा सकता।

यह बात भली भाँति समझ लेने की है कि व्यंजना में अर्थ व्यंग्य होता है, जबकि श्लेष में अर्थ वाच्य होता है। ध्वनि (आत्मा) और अलंकार (आभूषण) के अन्तर को समझना अत्यावश्यक है। इस सूक्ष्मता से अनभिज्ञ रहने के कारण-प्रमादवश 'रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून।

'पानी एग न ऊबरै, मोती मानुस चूना।।'

को व्यंजना के दृष्टान्त के रूप में उपस्थित किया गया है। यह निश्चय ही गलत है। इसमें वाच्य का प्राधान्य है, व्यंग्य का नहीं।

कुछ विद्वानों ने शाब्दी व्यंजना और आर्थी व्यंजना के अनेक भेदोपभेद बताए हैं। परन्तु, गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर इनके अनेक भेद नहीं होते, अपितु कई साधन हुआ करते हैं। फिर भी, कुछ विद्वानों-आचार्य विश्वनाथ आदि ने भेदों के अन्तर्गत इनका विवेचन किया है।

5B.1.3 शाब्दी व्यंजना के भेद

'साहित्य में पं० विश्वनाथ ने शाब्दी-व्यंजना के दो भेद बताए हैं :

1. अभिधामूला व्यंजना
2. लक्षणामूला व्यंजना

अभिधामूला व्यंजना में अनेकार्थक शब्द के प्रस्तुत अर्थ को 'वाच्य' और अप्रस्तुत अर्थ को 'व्यंग्य' कहा जाता है। अभिधामूला व्यंजना का एक अतिप्रचलित उदाहरण है :

'मुखर मनोहर श्याम रंग बरसत मुद अनुरूप।
झूमत मतवारो झमकि वनमाली रस रूप॥

यहाँ 'वनमाली' शब्द अनेकार्थक है– विशेषकर 'मेघ' और 'कृष्ण' का अर्थ-घोतन तो करता ही है। इसमें वर्णन भी मेघ का ही है। इस प्रकार प्रस्तुत अर्थ वाच्य है। परन्तु, 'वनमाली' का अप्रस्तुत अर्थ कृष्ण है और वह व्यंग्य है।

शाब्दी व्यंजना का सही निरूपण उसके साधनों के आधार पर ही किया जा सकता है। वे साधन हैं : संयोग, वियोग, साहचर्य, विरोध, सामर्थ्य, औचित्य, देश (स्थान) आदि।

संयोग :

संयोग से तात्पर्य है प्रसिद्ध-सम्बन्ध से किसी शब्द के अनेक अर्थों में से एक अर्थ का निश्चित हो जाना। जैसे, 'शंख-चक्र-सहित हरि।' यहाँ 'हरि' का अर्थ विष्णु ही होगा, क्योंकि हरि के अनेक अर्थों सिंह, बन्दर आदि के साथ 'शंख-चक्र' का संयोग नहीं रहता।

वियोग :

संयोग के विपरीत वियोग में प्रसिद्ध वस्तु का अभाव प्रदिर्शत कर अनेकार्थक शब्द से किसी एक अर्थ का निर्धारण कर लिया जाता है। जैसे, 'शंख-चक्र-रहित हरि।' यहाँ भी हरि का अर्थ विष्णु ही होगा, क्योंकि उसके अन्य अर्थ सिंह, बन्दर आदि के शंख-चक्र-विहीन होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

साहचर्य :

साहचर्य अर्थात् प्रसिद्ध व्यक्ति के सान्निध्य से अनेकार्थक शब्द का एक अर्थ सुनिश्चित हो जाता है। जैसे, कृष्ण-पूतना। 'पूतना' शब्द के अनक अर्थ-बालगह, बालरोग, पिशाच, राक्षसी, भूत, प्रेत आदि होते हैं। परन्तु, यहाँ 'कृष्णा' के साहचर्य से 'पूतना' का अर्थ राक्षसी ही है– वह राक्षसी जो कंस के कहने पर कृष्ण का प्राणान्त करने गई थी और उस प्रयास में स्वयं काल-कवलित हो गई।

विरोध :

किसी प्रबल या प्रसिद्ध विरोध–(असंगति) के कारण भी अनेकार्थक शब्द का एक अर्थ निश्चित हो जाता है। जैसे–

'कुंजर हरि सम लड़त।'

यहाँ 'हरि' शब्द अनेकार्थक है। इससे सिंह, बन्दर, विष्णु, हरि आदि का बोध होता है। परन्तु, हाथी (कुंजर) और सिंह (हरि) में प्रत्यक्ष विरोध होने के कारण इस पद में हरि का अर्थ सिंह ही होगा, बन्दर अथवा विष्णु नहीं।

सामर्थ्य :

जब पदार्थ-विशेष की शक्ति से अनेकार्थक शब्द का एक अर्थ निश्चित हो जाए, तब उसे सामर्थ्य कहते हैं। जैसे– 'मधु से मत्त कोकिल।'

यद्यपि 'मधु' पद के अनेक अर्थ-शहद, मद्य, दैत्य, वसन्त आदि प्रचलित हैं, तथापि कोकिल को वसन्त ही मत्त-मस्त बना पाता है– उसी में वह क्षमता (सामर्थ्य) है। इसलिए, सामर्थ्य से यहाँ मधु का अर्थ वसन्त ही निश्चित होता है।

औचित्य :

अनेकार्थक शब्द से एक निश्चित अर्थ ग्रहण करने में औचित्य (व्यक्ति अथवा वस्तु की योग्यता) का सहारा लिया जाता है। जैसे–

'हरि के चढ़ते ही उड़े सब द्विज एकै साथ।'

बन्दर के पेड़ पर चढ़ने से पक्षी उड़ जाया करते हैं। इसलिए, यहाँ अनेकार्थक 'हरि' शब्द का अर्थ बन्दर ही सुनिश्चित है, सिंह अथवा विष्णु नहीं। इसी प्रकार, पेड़ से उड़नेवाले 'द्विज' पक्षी ही हैं, ब्राह्मण नहीं।

देश :

देश अर्थात् स्थान भी अनेकार्थक शब्द के अनेक अर्थों में से एक अर्थ को निश्चित करने में परम सहायक होता है। जैसे–

'मरुभूमि में जीवन का मिलना बड़ा कठिन है।'

यहाँ मरुभूमि (स्थान) के कारण जीवन के अनेक अर्थों– जल, जिन्दगी, जीविका, पवन, अत्यन्तप्रिय आदि में से 'जल' अर्थ ही निश्चित हो जाता है।

इस प्रकार, अभिद्यामूला व्यंजना के कतिपय साधनों के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनेकार्थक शब्द से एक अर्थ का सुनिश्चित होना ही इसका अपना वैशिष्ट्य है। इसके लिए कुछ अन्य साधनों का भी सहारा लिया जाता है।

लक्षणामूला व्यंजना :

लक्षणामूला व्यंजना को शाब्दी व्यंजना माना जाए या उसका विवेचन आर्थी व्यंजना के अन्तर्गत किया जाए– यह एक ऐसा विषय है, जिसके सम्बन्ध में विद्वानों में मत-वैभिन्न्य है।

वस्तुतः, लक्षणामूला व्यंजना में प्रयोजन की प्रतीति ही मुख्य है। इस क्रिया में जो शक्ति सहायता पहुँचाती है, वह लक्षणामूला व्यंजना कहलाती है।

निस्सन्देह, लक्षणामूला व्यंजना में वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ से आगे बढ़कर व्यंग्यार्थ को प्राप्त करने का उद्देश्य रहता है। जैसे– 'गंगा पर घर है' में अभिधा गौण अर्थात् असमर्थ हो जाती है। लक्षणा 'गंगा-तट पर घर है' अर्थ अवश्य लक्षित करती है, पर 'घर के पावन होने' के गूढ़ भाव को व्यंजना ही प्रकाशित करती है। चूँकि यह व्यंजना लक्षणाश्रित है, इसलिए इसे लक्षणामूलक या लक्षणामूला व्यंजना कहते हैं।

5B.2.1 आर्थी व्यंजना अथवा अर्थमूलक व्यंजना

आर्थी व्यंजना वह शब्दशक्ति है, जो विशिष्ट साधनों– वक्ता, बौद्धव्य (श्रोतृ), काकु, वाक्य, अन्य सन्निधि, वाच्य, प्रस्ताव, देश, काल, चेष्टा आदि द्वारा अन्य अर्थ व्यंजित करती है।

ध्यातव्य है कि आर्थी व्यंजना में एकार्थक शब्द रहते हैं, जबकि शाब्दी व्यंजना में अनेकार्थक। आर्थी व्यंजना की मूलभूत विशिष्टता यह होती है कि वह शब्द-विशेष पर निर्भर न होकर अर्थ पर अवलंबित रहती है। इसलिए, आर्थी व्यंजना में सूक्ष्मता अधिक होती है।

5B.2.2 आर्थी व्यंजना के प्रकार

आर्थी व्यंजना के उतने ही प्रकार हैं, जितने उसके साधन हैं। यहाँ अत्यन्त संक्षेप में उपयुक्त उदाहरण-सहित उनका परिचय देना ही अभीष्ट है।

वक्तृवैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना :

जब वक्ता की उक्ति की विशेषता से व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है, तब उसे वक्तृवैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना कहते हैं। जैसे,

'देश पुकारता रहा है, तो पुकारता रहे।'

यहाँ देशवासियों पर वक्ता का व्यंग्य है कि उनकी लापरवाही के कारण देश बहुत दिनों से बाह्य और आन्तरिक संकटों से घिरा हुआ है। इस व्यंग्य से अन्य व्यंग्यार्थ यह निकलता है कि सब-के-सब स्वार्थी हो गए हैं और देश-हित का प्रश्न किसी के सामने नहीं रह गया है।

बौद्धव्य (श्रोतृ) वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना :

जब श्रोता की विशेषता से व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है तब उसे बौद्धव्य (श्रोतृ) वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना कहते हैं। जैसे,

'खोके आत्म गौरव स्वतंत्रता भी, जीते हैं।
मृत्यु सुखदायक है वीरो इस जीने से।'

–वियोगी हरि

इसमें व्यंग्यार्थ यह है कि स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए प्रयत्न न कर विलासमय जीवन व्यतीत करना ही वीरों ने अपना कर्त्तव्य समझ लिया है। व्यंग्य, सचमुच वीर श्रोताओं को तिलमिला देने वाला है– स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए प्राणोत्सर्ग की प्रेरणा देनेवाला है।

अन्य सन्निधिवैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना :

जब वक्ता और श्रोता के अतिरिक्त किसी अन्य सम्पर्क से व्यंग्यार्थ प्रकट हो, तब उसे अन्य सन्निधिवैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना कहते हैं। जैसे,

'बगला (बगुला) निःशंक बैठा है।'

यहाँ बगला अन्यसन्निधि है और उक्ति है नायिका की नायक के प्रति। बगला के निःशंक बैठने से स्थान का निर्जनत्व प्रतीत होता है। इससे नायिका अपनी सुकुमार भावना और अवसर की उपयुक्तता से नायक को अवगत कराना चाहती है। यह विशिष्ट अर्थ अभिधा या लक्षणा से संभव नहीं है। अतः, यहाँ अन्य-सन्निधि आर्थी व्यंजना है।

वाक्यवैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना :

जब वाक्य की समग्रता से व्यंग्यार्थ प्रकट हो, तब उसे वाक्यवैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना कहते हैं। जैसे–

'जेहि बिधि होइहि परम हित, नारद सुनहु तुम्हार।
सोइ हम करब न आन कछु, बचन का वृथा हमारन।।'

–श्री रामचरितमानस

यहाँ पूरे वाक्य से व्यंग्यार्थ स्पष्ट होता है कि भगवान् विष्णु नारद को अपना रूप नहीं प्रदान करेंगे। ज्ञातव्य है कि नारदजी ने राजकन्या को मोहित करने के लिए भगवान् विष्णु से उनका दिव्य रूप माँगा था। परन्तु, भगवान् ने नारद का हित सोचकर वैसा नहीं किया।

काकुवैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना :

काकु-परिवर्त्तित कण्ठध्वनि की विशेषता से जब व्यंग्यार्थ होता है, तब उसे काकुवैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना कहते हैं। उदाहरणार्थ सीताजी के उस वचन को उद्धृत किया जा सकता है, जिसे उन्होंने राम-वन-गमन के समय कहा था :

'मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू।
तुमहिं उचित तप मो कहँ भोगू।।'

– श्री रामचरितमानस

यहाँ सीताजी की परिवर्तित कंठध्वनि (काकु) से यह व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है कि सीताजी का वन जाना भी उचित है, केवल राम का नहीं।

चेष्टावैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना :

चेष्टा अर्थात् शारीरिक भंगिमा-विशेष हाव-भाव द्वारा जो व्यंग्यार्थ पकट होता है, उसे चेष्आ वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना कहते हैं। जैसे,

'कंटक काढ़ लाल के चंचल चाह निबाहि।
चरन खैंचि लीनो तिया हँसि झूठे करिआहि।।'

इन पंक्तियों में नायिका आह भी भरती है और साथ ही हँसकर पैर भी खींच लेती है। उसकी इस शृंगार-जन्य चेष्टा से किलकिंचित हाव व्यंजित होता है।

अनेकवैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना :

कभी-कभी अनेक साधनों-काल, देश, प्रस्ताव (प्रकरण) आदि के मेल से भी व्यंग्यार्थ प्रतीत होता है। इसी से यह अनेकवैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना कहलाती' है। जैसे,

'काम कुपित मधुमास अए, श्रमहारी बह जाय।
कुंज मंजु बन पति अनत करौं सखी कह काय।।'

यहाँ मधुमास से काल, कुंज मंजु वन से देश (स्थान), वियोग से प्रस्ताव (प्रकरण) का वैशिष्ट्य स्पष्ट है। इन सबके मेल से विरहिणी की मिलन-जन्य आतुरता का व्यंग्यार्थ प्रकट होता है।

इस प्रकार, आर्थी व्यंजना में विभिन्न साधनों से व्यंग्य की प्रतीति होती है– व्यंग्यार्थ अनेक साधनों से ग्रहण किया जाता है।

5B.2.3 अभिधा, लक्षणा और व्यंजना से सम्बद्ध विवादों का निराकरण

अन्ततः, अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के सम्बन्ध में प्रचलित मुख्य विवादों के सम्यक् निराकरण पर भी अत्यन्त संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

प्रखरबुद्धि महिमभट्ट ने 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रंथ में व्यंजनशक्ति का अस्तित्व ही नहीं माना है। उनके अनुसार केवल अभिधा को महत्त्व दिया जाना चाहिए। परन्तु, यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाए, तो अभिधा में निहित विशेष भाव या विचार भी अवसर-विशेष पर अभिधेयार्थ के साथ-साथ लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ को प्रकट करने के लिए व्यग्र-तत्पर हो उठता है। इसलिए, 'अभिधा और लक्षणा', 'लक्षणा और व्यंजना' के सामान्य सम्बन्ध को समझने के साथ-साथ उनके विशिष्ट सम्बन्ध को समझना भी परम अपेक्षित है। शब्दशक्ति क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती जाती है। इसी से अभिधा, लक्षणा और व्यंजना का क्रम-विन्यास करना पड़ता है।

नैयायिक और मीमांसक भी व्यंजना की सत्ता स्वीकार नहीं करते। परन्तु, काव्य में रस की प्रधानता है और रस व्यंजित होता है, वह संकेतित अथवा लक्षित होने तक सीमित नहीं हो सकता।

5B.3.1 अभिधा और लक्षणा

यद्यपि अभिधा अर्थात् मुख्यार्थ में बाधा उपस्थित होने पर लक्षणा का सहारा लेना पड़ता है, तथापि कहीं-कहीं अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ एक साथ व्यक्त होते दिखाई पड़ते हैं। जैसे–

'अब मैं सूख हुई हूँ काँटा आँख ज्योति ने दिया जवाब।
मुँह में दाँत न आँत पेट में हिलने को भी रही न ताब।' **–गुरुभक्त सिंह**

यहाँ स्पष्टतया अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ की प्रतीति एक साथ हो रही है। सूख का काँटा होना अर्थात् दुर्बल हो जाने में वाच्यार्थ अपनी सीमा को छोड़कर लक्ष्यार्थ तक पहुँच जाता है, पर मुँह में दाँत और पेट में आँत न होने से जर्जर वृद्ध का अर्थ साक्षात् संकेत से निश्चित रूप से ही प्राप्त हो जाता है। इसमें निश्चित रूप से वाच्यार्थ ही है, लक्ष्यार्थ नहीं। इस प्रकार इस पद में वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों की स्थिति समान है।

परन्तु 'गंगा पर घर है' में अभिधा की विद्यमानता संभव नहीं है, क्योंकि गंगा पर घर नहीं होता। 'गंगा-तट पर घर है, में लक्षणा काम करती है, अभिधा नहीं।

5B.3.2 लक्षणा और व्यंजना में अंतर

आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के पञ्चम उल्लास में व्यंजनावृत्ति का अनिवार्यता का प्रतिपादन विस्तारपूर्वक किया है। उन्होंने प्रतीयमान अर्थ को वस्तु, अलंकार और रस-रूप में विश्लेषित किया है। ध्यातव्य है कि रस का अर्थ सदा प्रतीयमान ही होता है और प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति व्यंजनावृत्ति से ही संभव है, क्योंकि अभिधा और लक्षणा में वह शक्ति विद्यमान नहीं रहती। 'प्रतीयमान अर्थ' ध्वन्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ का ही पर्याय माना जाता है।

व्यंजना लक्षणाश्रित भी होती है, क्योंकि कहीं-कहीं लक्षणा की सहायता से व्यंग्यार्थ में सहायता मिलती है। परन्तु, इसका यह अर्थ नहीं कि व्यंजना का स्वतंत्र अस्तित्व है ही नहीं। लक्षणा और व्यंजना का अन्तर स्पष्ट कर देने से इस भ्रम का निवारण हो जाएगा।

लक्षणा और व्यंजना के अन्तर को निम्नांकित रूपों में स्पष्ट किया जा सकता है :

1. लक्षणा शब्द तक सीमित रहती है, पर व्यंजना में अर्थ का विस्तार होता है।
2. लक्षणा मध्यमकोटि की शब्दशक्ति है, जबकि व्यंजना उत्तम कोटि की शब्दशक्ति है।
3. लक्षणा में प्रयोजन की प्रधानता होती है, व्यंजना में रस-ध्वनि का प्रामुख्य रहता है।
4. लक्षणा के विवेचन में लक्ष्यार्थ में लक्ष्यार्थ नहीं होता, जबकि व्यंग्यार्थ में दूसरा व्यंग्य भी हो सकता है।
5. लक्षणा में लक्ष्यार्थ वाचार्थ्य का रूपान्तरमात्र होता है, पर व्यंग्यार्थ पृथक् अर्थ हुआ करता है।
6. लक्षणा में अर्थ लक्षित होता है, व्यंजना में अर्थ प्रकाशित होता है--सूक्ष्मता का उद्घाटन किया जाता है।
7. लक्षणा में शब्द वाचक रहता है, पर व्यंजना में शब्द का वाचक होना आवश्यक नहीं है।

अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के विवेचन के सन्दर्भ में इन सबके उदाहरण दिए जा चुके हैं। इस प्रमुख बिन्दुओं के आलोक में शब्दशक्तियों के सूक्ष्म अन्तर को भली-भाँति समझा जा सकता है। साथ ही, यह बात भी भली-भाँति समझ लेने की है कि अभिधा, लक्षणा और व्यंजना में कोई विरोध नहीं होता-अर्थ-ग्रहण में तीनों का अपना अलग महत्त्व है। उनमें भेद केवल सूक्ष्मता के कारण है।

◆◆◆

काव्य-गुण

पाठ-संरचना

6.1.1 काव्य-गुण : परिभाषा और स्वरूप
वामन के अनुसार काव्य-गुण
दण्डी के अनुसार काव्य-गुण
अग्निपुराण के अनुसार काव्य-गुण
मम्मट के अनुसार काव्य-गुण
आनन्दवर्धन क अनुसार काव्य-गुण
विश्वनाथ के अनुसार काव्य-गुण
6.1.2 गुण और अलंकार में अन्तर
1. गुण का सम्बन्ध गुण के आन्तरिक पक्ष से
2. गुण काव्य के लिए अनिवार्य
3. रस से गुण का अभिन्न सम्बन्ध
4. गुणाश्रित और अलंकाराश्रित सम्बन्ध
5. नित्य सम्बन्ध का प्रश्न
6.1.3 गुण के भेद
आचार्य भरत के मत से
आचार्य भामह के मत से
आचार्य वामन के मत से
आचार्य भोजराज के मत से
आचार्य कुन्तक के मत से
आचार्य विश्वनाथ के मत से
आचार्य जगन्नाथ के मत से
माधुर्यगुण : लक्षण और दृष्टान्त
ओजगुण : लक्षण और दृष्टान्त
प्रसादगुण : लक्षण और दृष्टान्त

6.1.1 काव्य-गुण : परिभाषा और स्वरूप

गुण काव्य का अनिवार्य तत्त्व है। उसे काव्य का नित्य धर्म माना गया है। कारण यह कि गुण की विद्यमानता से ही रस की भी स्थिति बनी रहती है। दूसरे शब्दों में, गुण और रस में समवाय सम्बन्ध है– एक के बिना दूसरे का अस्तित्व नहीं रह सकता।

विभिन्न आचार्यों ने गुण को विविध रूपों में परिभाषित किया है। यहाँ कुछ प्रमुख परिभाषाओं पर विचार करते हुए गुण के स्वरूप को स्पष्ट करना ही अभीष्ट है।

आचार्य वामन के अनुसार जिस तत्त्व से काव्य का आन्तरिक सौन्दर्य प्रकट होता है, उसे गुण कहा जाता है :

'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः।' **—काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, 3.1.1**

ज्ञातव्य है कि अलंकार से भी काव्य की शोभा बढ़ती है, पर वह आन्तरिक शोभा न होकर बाह्य शोभा की वृद्धि-मात्र होती है। आचार्य वामन के साथ-साथ आचार्य दण्डी का भी ऐसा ही अभिमत है।

गुण की जो परिभाषा 'अग्निपुराण' के काव्यशास्त्रीय भाग में दी गई है, उससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि गुण काव्य की भीतरी कान्ति का प्रमुख अभिव्यंजक होता है।

'यः काव्ये महतीं छायामनुगृहणति असौ गुणः।'

सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्री आचार्य मम्मट के विचार से रस काव्य का अङ्गी-रूप होता है और गुण अनिवार्यतः अङ्ग-रूप में रस के साथ विद्यमान रहता है। इस प्रकार, गुण काव्य का उत्कर्ष बढ़ानेवाला होता है—

'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥' **—काव्य प्रकाश, 8.66**

मम्मट ने यहाँ 'शौर्यादय' पद का प्रयोग इसलिए किया है कि ओज आदि गुण नित्य माने जाते हैं—आत्मा के साथ उनका स्वाभाविक सम्बन्ध है। रस के साथ गुण का अभिन्न सम्बन्ध भी उसी कोटि का है।

गुण के स्वरूप के सम्बन्ध में आचार्य आनन्दवर्धन का मत आचार्य मम्मट के मत से भी अधिक स्पष्ट है। आनन्दवर्धन का मानना है कि काव्य में रस अंगी-रूप में प्रतिष्ठित रहता है और उसका जो मुख्य अंग होता है, वह गुण कहलाता है :

'तमर्थवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।' **—ध्वन्यालोक, 2.6**

रसवादी आचार्य विश्वनाथ (साहित्यदर्पण, 8.1) ने गुण-विवेचन में आचार्य मम्मट और आचार्य आनन्दवर्धन के ही मतों का अनुसरण किया है। तात्पर्य यह कि काव्य में गुण रस के अभिन्न अंग के रूप में प्रतिष्ठित रहता है।

परन्तु, काव्य-सौन्दर्य को बढ़ानेवाले तत्त्वों की दृष्टि से गुण और अलंकार को लेकर विद्वानों में मतवैभिन्न्य रहा है। कुछ आचार्य गुण को अलंकार से श्रेष्ठ मानते हैं, तो कुछ विचारक गुण और अलंकार में कोई भेद ही नहीं करते। परन्तु, गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर दोनों में स्पष्ट अन्तर दिखाई पड़ता है।

6.1.2 गुण और अलंकार में अन्तर

गुण और अलंकार के अन्तर को निम्नांकित रूपों में स्पष्ट किया जा सकता है।

1. गुण का सम्बन्ध काव्य के आन्तरिक पक्ष से रहता है, जबकि अलंकार उसके बाह्य पक्ष से सम्बद्ध होता है। ऐसा अवसर बहुत कम ही देखने में आता है, जब अलंकार काव्य के अन्तःपक्ष का अंश बन जाता है।

2. गुण काव्य के लिए अनिवार्य है, पर अलंकार के साथ ऐसी बात नहीं है। अलंकार काव्य में रह भी सकता है और नहीं भी।

3. रस से गुण का अभिन्न सम्बन्ध है, जबकि अलंकार रस का केवल बाह्य सहायक तत्त्व बन सकता है।

4. जो रचना गुणाश्रित होगी, वह रसाश्रित भी होगी ही। परन्तु, जो कृति अलंकाराश्रित है, उसमें रस भी हो, यह आवश्क नहीं। अलंकाराश्रित काव्य उच्च कोटि का नहीं होता।

5. रस के अनुरूप गुण और गुण के अनुरूप रस हुआ करता है। जैसे, शृंगार रस है, तो माधुर्य गुण अवश्य होगा। अलंकारों के साथ ऐसी बात नहीं है, अलंकार शृंगार अथवा वीर या किसी रस का सहायक तो हो सकता है, पर उसके साथ नित्य सम्बन्ध नहीं स्थापित कर सकता।

6.1.3 गुण के भेद

साहित्यशास्त्रियों ने काव्य-गुण के तीन से लेकर चौबीस तक भेद किए हैं। परन्तु, गुण के तीन भेद– माधुर्य, ओज और प्रसाद ही अधिक प्रचलित रहे हैं।

आचार्य भरत (नाट्यशास्त्र, 17.16) ने गुण के दस, आचार्य भामह (काव्यालङ्कार) ने तीन, आचार्य दण्डी (काव्यादर्श, 1.41) ने दस, आचार्य वामन (काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति, 3.1.1.) ने बीस (दस शब्द गुण और दस अर्थ गुण), भोजराज ने चौबीस और आचार्य कुन्तक (वक्रोक्तिजीवित) ने छह भेद माने हैं।

परन्तु, आचार्य मम्मट (काव्यशास्त्र) ने काव्य के तीन ही गुण स्थिर किए हैं और आचार्य विश्वनाथ (साहित्यदर्पण) एवं पण्डितराज जगन्नाथ (रसगंगाधर) ने मम्मट का ही समर्थन किया है। मम्मट का स्पष्ट मत है कि वामन के दस शब्द गुणों का समाहार तीन गुणों में ही हो जाता है और पृथक् अर्थगुणों का विवेचन युक्तियुक्त नहीं है।

इस प्रकार, निम्नांकित, तीन काव्य-गुणों का विवेचन ही उपयुक्त है :

1. **माधुर्यगुण** : जो तत्त्व काव्य को मधुर, कोमल, आकर्षक और आह्लादक बनाता है, उसे माधुर्यगुण कहते हैं।

काव्य-रसों में कुछ ऐसे रस हैं, जो माधुर्य गुण के द्वारा ही सम्यक् रूप में व्यञ्जित होते हैं। जैसे, रसराज शृंगार के दोनों पक्ष- संयोग एवं वियोग, करुण और शान्त। इसे उदाहरणों द्वारा अधिक स्पष्टता से समझा जा सकता है–

'ललित लवंग लता परिशीलन कोमल मलय समीरे।' **–जयदेव**

अथवा

'नन्दकनन्दन कदम्बक तरु तरे धिरे-धिरे मुरलि बजाव।' **– विद्यापति**

या

'निरख सखी ये खंजन आये
फेरे उन मेरे रंजन ने इधर नयन मन-भाये।' **–मैथिलीशरण गुप्त**

विद्यापति के पद में तो धीरे-धीरे को 'धिरे-धिरे' और मुरली को 'मुरलि' लिखकर-ह्रस्व उच्चारण से कोमलता की अतिशयता व्यक्त की गई है। तात्पर्य यह कि माधुर्य गुण क लिए कोमल कान्त पदावली का प्रयोग किया जाता है, जिसमें ह्रस्व की अधिकता रहती है तथा ट,ठ, ड, ढ व्यंजनों और लम्बे समासों को वर्जित माना जाता है। मम्मट (काव्यप्रकाश 8.64) एवं विश्वनाथ (साहित्यदर्पण, 8.3) ने इस पर विस्तार पूर्वक विचार किया है। यहाँ उसकी चर्चा अनपेक्षित है।

2. ओज गुण :

काव्य द्वारा जिस तत्त्व से उत्साह का संचार किया जाता है, उसे ओजगुण कहते हैं।

काव्य-रसों में वीर-रस और रौद्र रस की व्यंजना में ओजगुण की प्रमुख भूमिका रहती है। इसमें संयुक्त वर्णों का आधिक्य तो रहता ही है, ट, ठ, ड, ढ़ व्यंजनों का भी अधिकाधिक प्रयोग किया जाता है। लम्बे-लम्बे समासों की गुंजाइश भी ओजगुण में ही होती है। उदाहरण द्वारा ओजगुण की प्रभावकारिता को स्पष्ट किया जा सकता है।

'मरकट युद्ध विरुद्ध क्रुद्ध अरि ठट्ट दपट्टहिं।
अब्द शब्द करि गर्जि तर्जि झुकि झर्पि झपट्टहिं।'

अथवा

'राजा शिवराज के नागरन की धाक सुनि
केते बादशाहन की छाती घरकति है।' **–भूषण**

3. प्रसाद गुण :

प्रसाद गुण एक ऐसा तत्त्व है, जिससे काव्य-रस सहज और सरल रूप में व्यंजित हो जाता है।

आचार्य आनन्दवर्धन (ध्वन्यालोक, 2.10) ने प्रसाद गुण का स्वरूप-निर्धारण करते हुए लिखा है कि प्रसाद गुण के कारण काव्य-रस उसी प्रकार सरलता से ग्राह्य बन जाता है, जिस प्रकार सूखा ईंधन अग्नि से और स्वच्छ वस्त्र जल से अविलम्ब प्रभावित हो जाता है।

प्रसाद गुण सभी रसों में व्याप्त रहता है। इसमें उन सभी वर्णों एवं समासों का प्रयोग होता है, जो सहजरूप में – सुनते ही अर्थ को स्पष्ट कर देते हैं– सरलता से रसानुभूति करा देते हैं।

प्रसाद गुण का उत्कृष्ट उदाहरण है महाकवि निराला का यह पद :

'वह आता'

दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को-भूख मिटाने को,
मुँहफटी पुरानी झोली को फैलता,
दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता।'

गुण के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य में रस एवं गुण अभिन्न रूप में विद्यमान रहते हैं तथा मुख्यतः माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों का ही विवेचन काव्यशास्त्रियों द्वारा किया जाता रहा है। काव्य में शब्द गुणों में ही अर्थगुणों का भी संयोग रहता है। इसलिए, आचार्य मम्मट ने अलग से अर्थगुणों की चर्चा को निरर्थक बताया। अनावश्यक भेदोपभेदों से विवेचन में स्पष्टता के बदले दुरूहता आ जाती है, जो निश्चय ही अनपेक्षित है। शास्त्र में वर्गीकरण सूक्ष्म विश्लेषण के लिए किया जाता है, विषय को बोझिल बनाने अथवा भ्रम उत्पन्न करने के लिए नहीं।

◆◆◆

काव्य-दोष का सामान्य परिचय

पाठ-संरचना

7.1 उद्देश्य

7.2 परिचय एवं पृष्ठभूमि

7.3 विस्तार, दोष, लक्षण एवं परिभाषा

7.3.1 दोषों के भेद

7.3.2 काव्य दोष चार प्रकार के होते हैं

7.3.3 प्रमुख दोषों के उदाहरण

7.4 सारांश

7.5 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

7.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

7.7 सहायक ग्रन्थ

7.1 उद्देश्य

इस पाठ का उद्देश्य है छात्रों को 'काव्य-दोष' से परिचित कराना।

7.2 परिचय एवं पृष्ठभूमि

गुण की तरह 'दोष' भी रीति-संप्रदाय का एक महत्वपूर्ण अंग है। भारतीय काव्यशास्त्र के प्रारंभ से ही दोष-परिहार की चर्चा मिलती है तथा निर्दोषता को सहज गुण की तरह स्वीकृत किया गया है। भरतमुनि ने (4 शताब्दी ई) 'नाट्शास्त्र' (17/88/94) में लिखा है कि दोष की स्थिति भावात्मक है, गुण उसका विपर्यय है। 'काव्यालंकार परिच्छेद-4 में भामह (सातवीं शताब्दी ई०) ने कहा है कि सत्कवि काव्य में दोषों का प्रयोग नहीं करते। दण्डी (7वीं शताब्दी ई, 'काव्यादर्श के प्रणेता) कहते हैं कि 'दोष' काव्य में विफलता के कारण होते हैं, अत: विद्वानों को इनसे बचना चाहिए। जैसे छोटा सा कुष्ठ का दाग सुंदर-से-सुंदर शरीर को कुरूप कर देता है उसी प्रकार रंचमात्र दोष भी काव्य-सौंदर्य को विकृत कर देता है। (काव्यादर्श, 1/7) वामन (9वीं शताब्दी मध्य, 'काव्यालंकार सूत्र' के प्रणेता) कहते हैं कि 'दोष' काव्य-सौंदर्य को हानि पहुँचाते हैं। मम्मट (11वीं श० ई०; 'काव्यप्रकाश' के प्रणेता के अनुसार 'दोष' मुख्य अर्थ के अपकर्षक होते हैं। उद्देश्य की प्रतीति का विधातक होना ही मुख्यार्थ का अपकर्ष है। आचार्य विश्वनाथ ('साहित्यदर्पण' के रचनाकार, 13-14 श० ई०) भी मम्मट की तरह ही कहते हैं कि जो 'रस' का अपकर्षण (हानि) करे, वहीं 'दोष' है। (मूल रूप में रस और गौण सब में शब्द ओ अर्थ के अपकर्ष द्वारा काव्य की हानि (अपकार) करनेवाले तत्त्व 'दोष' कहलाते हैं।) विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में विस्तारपूर्वक दोषों का विवेचन किया है, परंतु वह 'काव्यप्रकाश' (मम्मट) पर ही आधृत है।

हिन्दी के आचार्यों ने भी 'दोषों' की चर्चा की है। केशवदास ने 'रसिकप्रिया' (1591 ई०) और 'कविप्रिया' (1601 ई०) में दोषों को तीन वर्गों में विवेचित किया है। चिंतामणि त्रिपाठी (कवि कुल कल्पतरु, 1650 ई०), तोषनिधि (सुधानिधि, 1635 ई०), जसवंत सिंह, मतिराम, पद्माकर तथा भूषण ने अपने-अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में दोषों का उल्लेख नहीं किया है। कुलपति मिश्र (रस-रहस्य, 1670 ई०) ने दोषों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। देव कवि ने 'काव्यरसायन' (1703 ई०) में रस-दोष का अच्छा विवेचन किया है। 'काव्यसिद्धांत' में सूरतिमिश्र (18वीं श० पूर्वार्ध) ने 'दोषांकुश' शीर्षक के अन्तर्गत दोषों के लक्षण तथा उनको दूर करने के उपायों पर विस्तारपूर्वक चर्चा की है। सूरति मिश्र हिंदी के प्रमुख आचार्य हैं जिन्होंने काव्यशास्त्र के सभी अंगों पर विशदता-विस्तृति के साथ विचार किया है। कुमार मणि भट्ट (रसिक रसाल, 1719 ई०), श्रीपति (काव्य सरोज, 1720 ई०, कवि कल्पद्रुम-1723 ई०), सोमनाथ (रसपीयूषनिधि, 1737 ई०), मिरवारीदास (काव्य-निर्णय, 1746 ई०) रतन कवि ('फतेह भूषण'-1773 ई०), जनराज (कविता रसविनोद-1776 ई०) जगतसिंह (साहित्य सुधानिधि), धानकवि (दलेल प्रकाश, 1793 ई०), रसिकगोविंद (रसिक गोविन्दानादप्यन), ग्वाल कवि (दूषणदर्पण, 1833 ई०) लछिराम (रावणेश्वर कल्पतरु, 1890 ई०), कन्हैयालाल पोद्दार (रसमंजरी, 1934 ई०), सीताराम शास्त्री (साहित्य सिद्धांत-1923 ई०), बिहारीलाल भट्ट (साहित्यसागर-1937 ई०) आदि ने विभिन्न दोषों की चर्चा की है।

7.3 विस्तार : 'दोष' लक्षण (परिभाषा)

दोषों की चर्चा तो भरत के नाट्यशास्त्र से ध्वनि-उत्तरकाल तक प्राप्त होती है, पर दोषों को परिभाषा में बाँधने का कार्य वामन ने ही किया। भरतमुनि ने दोषों को भावात्मक माना है और 'गुण' को उसका विपर्यय (उल्टा) [एत एव विपर्यस्ता गुणाः कालेषु कीर्तिता : 1-नाट्यशास्त्र, 7/95]

भामह ने दोषों का वर्गीकृत अध्ययन किया पर उनका लक्षण नहीं दिया। भामह ने यह घोषणा की कि सत्कवि उसका प्रयोग अपनी रचनाओं में नहीं करते। दण्डी ने दोषों के संबंध में कहा कि ये काव्य को विफल करनेवाले होते हैं, अतः विद्वानों को इनका परिहार करना आवश्यक होता है। [● काले दोषा गुणाश्चैव विज्ञातव्या विचक्षणैः दोषा विपत्तये तत्र गुणाः संपत्तये यथा]

[●● देशकाल कला लोकन्यायागम विरोधि च इति दोषाः ..... 3/126]

गुण की तरह दोषों के अध्ययन को वामन ने एक अच्छी व्यवस्था प्रदान की। वामन के 'विपर्यय' का अर्थ वैपरीत्य ही है। इनके अनुसार काव्य-दोष गुणों के अभाव नहीं है। ये काव्य-सौंदर्य को नष्ट करनेवाले हैं। ''उनके अधिकांश गुण सौंदर्यशास्त्र तथा लोक-औचित्य आदि के निषेध अथवा उल्लंघन द्वारा काव्य-सौंदर्य की हानि करते हैं। अतएव इनकी स्थिति भावात्मक ही है।'' (डॉ० नगेंद्र) वामन की दोष-विवेचना का सारांश यही है कि 'दोष' काव्य-सौंदर्य को नष्ट करनेवाले होते हैं।

'ध्वनि' की स्थापना के पूर्व काव्य-सौंदर्य को रूपगत माना जाता था और इसका संबंध वस्तु से होता था, परंतु आनंदवर्धन द्वारा 'ध्वनि' की स्थापना के पश्चात् काव्य-सौंदर्य आत्मगत हो गया। दोषों को अब 'रस' से संबद्ध माना गया। मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में इसे स्पष्ट करते हुए लिखा :

मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तादाश्रयाद्वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ॥ **(सप्तम उल्लास, 49)**

अर्थात्, ''मुख्य अर्थ के ज्ञान के विघातक कारणों के दोष कहते हैं, काव्य में 'रस' तो मुख्य होता ही है; परंतु उसी रस के आश्रित (उपकारक होने के कारण अपेक्षित) वाच्य अर्थ भी मुख्य होता है। और,

रस तथा काव्य अर्थ इन दोनों के उपयोग में आनेवाले शब्दादिक भी हैं, अतएव उन शब्दों और अर्थों में भी 'दोष' होता है।'' शब्द और अर्थ-दोष 'रस' को पुष्ट नहीं होने देते।

□ साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ कहते हैं :

''दोषास्तस्यापकर्षका:''– 'रस' को अपकर्षित करनेवाले तत्त्व 'दोष' कहलाते हैं। गुण काव्य-सौंदर्य को उत्कृष्टता प्रदान करनेवाले होते हैं : ''**उत्कर्ष हेतवः प्रोक्ता गुणालंकार रीतय:**''– [सा० द०, 1/3]

• अग्निपुराणकार ने कहा कि 'दोष' उद्वेगजनक होते हैं : उद्वेगजनको दोष:''।

• दोषों को 'रस' से संबद्ध करके कहा गया कि 'रस' की हानि तीन प्रकार से होती है : रस-प्रतीति में विलंब करनेवाले तत्त्व, अवरोध डालने वाले तत्त्व तथा रस-प्रतीति को पूर्णत: विनष्ट करने वाले तत्त्व। रस-प्रतीति विलंबित होने, अवरूद्ध होने और नष्ट होने के कारण हमारा मन क्षुब्ध हो उठता है हम उद्विग्न हो जाते हैं।

• शब्द और अर्थ के पुष्ट-अपुष्ट होने से 'रस' या काव्यत्व की हानि ही 'दोष' है।

• रस में उत्कर्षता वर्णों, पदों, अर्थों और अर्थ जिनके लिए हों। इनमें सामंजस्य से उत्पन्न होती है; यह सामंजस्य जहाँ नहीं होता वहाँ रस नहीं होता और जहाँ रस नहीं होता वहाँ काव्य नहीं होता। सामंजस्य विघटित करने वाला तत्त्व ही 'दोष' है। (लेखक) वर्ण, पद, अर्थ और सामाजिकों तथा इनके भावगत संप्रेषण से काव्य की सफलता निर्धारित होती है। वर्ण, पद और अर्थ परस्पर समंजित होकर पूर्ण भाव-चित्र का निर्माण करते हैं। यही पूर्ण भाव-चित्र रसपूर्ण काव्य होता है, जो सामाजिकों तक अनिवार्य रूप से संप्रेषित होता है। इस 'संप्रेषण' को बाधित करने वाले तत्त्व ही 'दोष' हैं।

7.3.1 दोषों के भेद

• 'काव्यप्रकाश' के सप्तम उल्लास में मम्मट ने काव्य-दोषों के लक्षण निम्नोक्त रूप में प्रस्तुत किये हैं :

''दुष्टं पदं श्रुतिकटु च्युत संस्कृत्य प्रमुक्तमसमर्थम्
निहितार्थमनु चितार्थं निरर्थकम वाचकं त्रिधाश्लीलम्
संदिग्धमप्रतीतं ग्राम्यं नेयार्थमथ भवेक्लिष्टम्
अविमृष्टविधेयांशं विरुद्धमेतिकृत्समासगतमेव।''

(सू० 72, श्लोक 50-51)

अर्थात्, श्रुतिकटु, च्युत संस्कृति, अप्रयुक्त, असमर्थ, निहितार्थ, अनुचितार्थ, निरर्थक, अवाचक, अश्लीलत्व, संदिग्ध, अप्रतीत, ग्राम्य, नेयार्थ, क्लिष्ट, अविमृष्टविधेयांश तथा विरुद्धमति कृत् आदि 'दोष' मम्मट ने पदों के 16 वाक्यों के 13, 20 अन्य प्रकार के दोषों तथा 23 अर्थगत दोषों एवं 13 रस दोषों का विस्तृत विवेचन किया है।

भरत ने कुल दस दोष माने हैं :

(1) गूढ़ार्थ (2) अर्थांतर (3) भिन्नार्थ (4) अर्थहीन (5) एकार्थ (6) अभिप्लुतार्थ (7) न्यायादपेत (8) विषम (9) विसंधि (10) शब्दहीन।

• गूढ़ार्थ में क्लिष्ट कल्पित विशेषता का निष्प्रयोजन प्रयोग होता है। [''पर्याय शब्दाभिहितं गूढ़ार्थभिसंज्ञितम्'']

• अर्थंतर अनावश्यक कथन होता है।

• जहाँ असभ्य एवं ग्राम्य अर्थ का द्योतन हो तया अभीष्टार्थ दूसरे अर्थ में परिणत होकर अर्थ को छिन्न-भिन्न कर दे, वहाँ भिन्नार्थ होता है।

• जहाँ संबद्ध और परस्पर विरोधी कथन हों, वहाँ अर्थहीनता होती है।

• एक अर्थ के लिए अनेक अनावश्यक शब्दों के प्रयोग में एकार्थ होता है। ''विवक्षितोऽन्य एकार्थों यात्रान्यार्थेन भिद्यते''।

• जहाँ प्रत्येक पाद में अर्थपूर्ण हो और विभिन्न पदों के अर्थ में कोई साम्य न हो, वहाँ अभिलुप्तार्थ होता है। [एकार्थस्याभिधावं यत् तदेदार्थमिति स्मृतम् अभिलुप्तार्थं विज्ञेय यत् पादेन समस्यते।'']

• प्रमाणहीनता में न्यायादपेत दोष (''न्यायादपेतं विज्ञेयं प्रमाण परिवार्जितम्'') होता है।

• छंद-भंग में विषम दोष होता है। (वृत्त (दोषो) भवेद्यत्र विषयं नाम तद्भवेत्।'')

• संधि नहीं होने योग्य शब्दों में संधि होने से विसंधि दोष होता है। (अनुप्रतिष्ठा शब्दं यत्ततृविसन्धीति अशितम्।'')

• जहाँ व्याकरण से अशुद्ध माने गए शब्द का प्रयोग हो, वहाँ शब्दहीन दोष होता हे। (''शब्दहीनं च विज्ञेयमशब्दस्य च योजनात्'')

• भरतमुनि कहते हैं कि ये ही दोष विपरीत होकर काव्य में गुण कहलाते हैं।

[एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभिनटि का श्रयाः
एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः।'']

उपर्युक्त कोष्ठगत संस्कृत के वाक्य भरतमुनि के नाट्यशास्त्र (17/88 से 17/95 तक) से लिए गए है।

भामह ने तीन प्रकार के 'दोष' माने : असामन्य दोष, वाणी के दोष तथा अन्य दोष।

''नेयार्थं क्लिष्टमन्यार्थम वाचकम मुक्तिमत्।
गूढ शब्दभिधानञ्च कवयो न प्रयुञ्जते।। (काव्यालंकार, 1/37)

श्रुतिदुष्टार्थ दुष्टे च कल्पनादुष्टभित्यपि।
श्रुति कष्टं तथैवाहुर्वाचां दोषं चतुर्विधम।। (,, 1/47)

अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम्।
शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसंधि च।। (,, 4/1)

सामान्य दोष में नेयार्थ, क्लिष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्तिमत् तथा गूढ़ शब्द दोष; वाणी-दोष में : श्रुतिदुष्ट अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट, श्रुतिकष्ट तथा अन्य दोष में : अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय, उपक्रम, शब्दहीन यतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसंधि, देश-काल, कला लोकन्यायागम विरोधी तथा प्रतिज्ञा हेतु दृष्टांतहीन दोष आते हैं।

• भामह का दोष-वर्गीकरण वैज्ञानिक नहीं है। इनके द्वारा वाणी-दोष को शब्द-दोष माना जाए, तो उसमें परिगणित अर्थदुष्ट और कल्पना दुष्ट सही नहीं ठहरते।

• दण्डी (काव्यादर्श) ने भामह के अन्य दोष श्रेणी में वर्णित सारे दोषों को लिया है, परंतु 'प्रतिज्ञाहीन-दृष्टांहदीन' दोष को अस्वीकृत कर दिया। दण्डी के अनुसार निम्नोक्त दस 'दोष' हैं :

- अपार्थ (अप् + अर्थ) : इसमें समग्र रूप में कोई अर्थ नहीं निकलता।
- व्यर्थ : यह दोष काव्य या प्रबंध के पूर्वापर विरोध में होता है।
- एकार्थ : पूर्व कथन की आवृत्ति में जहाँ वैभिन्य नहीं हो।
- संशय : अर्थ स्पष्टीकरण के लिए प्रयुक्त वचन जहाँ संशय उत्पन्न करते हों।
- अपक्रम : जहाँ वर्णित वस्तुओं का क्रम ठीक नहीं हो।
- शब्दहीन : व्याकरण से अशुद्ध माने गए शब्दों का प्रयोग।
- यतिभ्रष्ट : यह दोष यति-भंग में होता है।
- भिन्नवृत्त : जहाँ छंद के लिए व्यवस्थित वर्णों और मात्राओं में उलट-पुलट हो और अव्यवस्था हो।
- विसंधि : यहाँ संधि के नियमों की अवहेलना होती है।
- देश-काल-लोक-समागम विरोधी दोष।
- भामह और दण्डी पर भरतमुनि का पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है।
- वामन (काव्यालंकारसूत्रवृत्ति) ने शब्द और अर्थ पर आधृत बीस दोषों की चर्चा की है। ये दोषों को चार वर्गों में विभक्त करते हैं : (i) पदगत दोष (ii) पदार्थगत दोष (iii) वाक्यगत दोष और (iv) वाक्यार्थगत दोष।

इनके अनुसार पदगत दोष पाँच हैं : (i) असाधु पद (ii) कष्ट पद (iii) ग्राम्य पद (iv) अप्रतीतपद (v) अनर्थक पद।

- असाधु दोष : व्याकरण के विपरीत
- कष्टपद दोष : कर्णकटु पद (जो कानों को प्रिय न लगें।)
- ग्राम्य पद दोष : जिनका लोक में ही प्रयोग हो, शास्त्र में नहीं, ऐसे पदों में ग्राम्य पद दोष होता है।
- अनर्थक पद दोष : केवल पाद-पूर्ति के लिए प्रयुक्त होनेवाला शब्द।

वामन ने पाँच पदार्थगत दोषों का वर्णन किया है : (i) अन्यार्थ (ii) नेयार्थ (iii) गूढ़ार्थ (iv) अश्लील और (v) क्लिष्टत्व।

- अन्यार्थ दोष : शबदों के रूढ़िच्युत अर्थ में प्रयोग से यह दोष आता है।
- नेयार्थ दोष : कल्पित अर्थ में यह दोष होता है। (कल्पना से यह अर्थ लगाना पड़ता है।)
- गूढ़ार्थ दोष : अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयुक्त शब्द। इसे ही आजकल अप्रयुक्तत्व दोष कहा जाता है।
- अश्लील पदार्थ दोष : जिस पदार्थ से असभ्यार्थ की स्मृति हो।
- क्लिष्ट पदार्थगत दोष : जहाँ अर्थ अत्यंत दूरारूढ़ हो।

❑ नेयार्थ और क्लिष्ट पदार्थ दोष में थोड़ी भिन्नता है। 'नेयार्थ' में अर्थ के लिए लक्षणा की आवश्यकता पड़ती है, किंतु क्लिष्टत्व पदार्थ दोष में लक्षणा की आवश्यकता नहीं पड़ती, अभिधा से ही काम चल जाता है।

❑ वामन ने तीन काव्य-दोषों और सात काव्यार्थ दोषों का विवेचन किया है।

- "भिन्नवृत्तयतिभ्रष्ट विसंधीनि वाक्यानि।" (काव्यालंकार सूत्रवृत्ति-2/2/1)

यानी काव्य-दोष तीन प्रकार के होते हैं :

- भिन्नवृत्त : अपने लक्षण से हीन वृत्त
- यतिभ्रष्ट : जिस श्लोक काव्य में श्रुतिकटु विराम हो, वहाँ यतिभ्रष्ट दोष होता है।
- विसंधि दोष : जहाँ पदों की विरूप या अनुचित संधि हो।

❑ वामन के अनुसार वाक्यार्थ दोष सात हैं :

(1) व्यर्थ दोष : पूर्वापर विरोध में यह दोष होता है,

(2) एकार्थदोष : उक्तार्थ पद की निष्प्रयोजन आवृत्ति,

(3) संधि काव्यार्थ दोष : संशय कराने वाले वाक्य में

(4) अप्रयुक्तदोष : छल आदि से कल्पित अर्थ में यह दोष होता है।

(5) अपक्रम दोष : अर्थ की क्रमहीनता में।

(6) लोकविरुद्ध दोष : देश-काल-स्वभाव से विरुद्ध अर्थ में यह दोष होता है।

(7) विद्या-विरुद्ध दोष : कला-शास्त्र के मान्य सिद्धांतों के विरोध में यह दोष होता है।

❑ वामन ने दोषों के विवेचन को वैज्ञानिक आधार दिया। वे भरत-भामह-दण्डी से प्रभावित दिखते हैं। उन्होंने बड़ी सतर्कता और स्वच्छता के साथ शब्द और अर्थों के आधार पर दोषों का वर्गीकरण किया और स्पष्ट उदाहरण भी प्रस्तुत किए। फिर भी, उनके द्वारा वर्णित अनेक 'दोष' ऐसे हैं जो एक-दूसरे की सीमा में प्रवेश कर जाते हैं। क्लिष्ट, नेयार्थ, गूढ़ार्थ के संदर्भ में इसे देखा जा सकता है। काव्य को शब्द और अर्थ के स्तर पर अलग-अलग करके देखने से यहीं गड़बड़ी होती है। काव्य के शब्दों और अर्थों के आधार पर अलग-अलग विश्लेषण से नहीं समझा जा सकता क्योंकि शब्दों और अर्थों की पारस्परिकता एवं अन्विति में ही काव्यत्व होता है। शब्दार्थौ सहितौ काव्यम'' का प्रतिपाद्य यही है। ''वागर्थ इव सम्पृक्तौ'' इसी लक्ष्य को प्रस्तुत करता है।

❑ उत्तर-ध्वनिकाल में 'रस-ध्वनि' को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठा मिलने पर रसौचित्य को ही काव्य के प्रमुख प्रतिमान के रूप में रखा गया। अतः गुणों और दोषों का विवेचन भी इसी आलोक में होने लगा। 'गुण' रस के उपकारक धर्म और 'दोष' रस के अपकारक हेतु के रूप में वर्णित होने लगे।

❑ मम्मट ने उत्तर ध्वनि-काल में दोष-दर्शन को सार रूप में 'काव्यप्रकाश' में प्रस्तुत किया है। उन्होंने पदगत सोलह, वाक्यगत तेरह, अर्थगत तेईस और अन्य प्रकार के बीस वाक्य दोषों को सोदाहरण विस्तृत चर्चा की है। इनके साथ उन्होंने तेरह प्रकार के रस-दोषों की चर्चा की है। यहाँ मम्मट को आधार बनाकर प्रमुख भेदों की चर्चा की जाएगी।

7.3.2 काव्य-दोष चार प्रकार के होते हैं :

(क) पद-दोष (पदगत दोष) (ख) वाक्य-दोष (वाक्यगत दोष)

(ग) अर्थगत दोष (घ) रस-दोष

❑ पदगत दोष सोलह प्रकार के होते हैं :

1. श्रुतिकटु 2. च्यतु संस्कृति
3. अप्रयुक्त 4. असमर्थ

5. निहतार्थ
6. अनुचितार्थ
7. निरर्थक
8. अवाचक
9. अश्लील
10. संदिग्ध
11. अप्रतीत
12. ग्राम्य
13. नेयार्थ
14. क्लिष्ट
15. अविमृष्टविधेयांश
16. बिसद्धमतिकृत

● च्युत संस्कार दोष, असमर्थ दोष एवं निरर्थक दोष को छोड़कर शेष तेरह दोष वाक्यों में भी पाए जाते हैं।

□ मम्मट ने निम्नोक्त बीस वाक्यों को दोषयुक्त माना है :

(i) जिनके वर्ण रचना के प्रतिकूल हों।
(ii) जिनमें विसर्ग उपहत या लुप्त हो। (हिंदी में इसके उदाहरण नहीं मिलते।)
(iii) जिनमें संधि विरूप (अश्लील या भद्दी हो) हो; विसंधि।
(iv) हतवृत : जिनके छंद सुनने में दु:खदायक हों
(v) न्यूनपदत्व दोष : अभिव्यक्ति या प्रसंग के अनुकूल पद की न्यूनता हो।
(vi) अधिक पदत्व दोष : अभिव्यक्ति या प्रसंग के अनुकूल पद की अधिकता हो।
(vii) कथित पदत्व दोष : एक ही पद का बार-बार आना।
(viii) पतत्प्रकर्ष दोष : वर्णन के उत्कर्ष को घटानेवाला।
(ix) समाप्तपुनरात्त दोष : जिन वाक्यों में किसी विषय को समाप्त कर पुन: उठाया गया हो।
(x) जिनमें श्लोक के प्रयमार्द्ध का वाचक पद केवल श्लोक के द्वितीयार्द्ध में एक ही रहें। [अर्द्धान्तरैक वाचक दोष]
(xi) जहाँ पर इष्ट का सम्बंध ही न हो। [अभवन्तमत संयोग]
(xii) अनमिहित वाच्यदोष : कोई अवश्य कहने योग्य विषय कहने से छूट जाए।
(xiii) अस्थानस्यपदत्व दोष : जिसमें कोई एक पद अपने उचित स्थान न हो।
(xiv) अस्थानस्थसमास दोष : अस्थानस्थ समास को कारण पद दोष उत्पन्न होता है।
(xv) जिनमें एक काव्यांश के शब्द अन्य वाक्यांश में सम्मिलित हों। [संकीर्ण दोष]
(xvi) जिनमें एक काव्य के भीतर दूसरा काव्य सम्मिलित हों। [गर्भित दोष]
(xvii) प्रसिद्धिहत दोष : जो प्रसिद्धि से भिन्न हो।
(xviii) भग्न प्रक्रम दोष : जिनमें प्रसंग का क्रम टूट गया हो।
(xix) अविद्यमान क्रम दोष : जहाँ क्रम विद्यमान न हो।
(xx) अमत पदार्थ दोष : जहाँ प्रकरण प्राप्त रस के विरुद्ध किसी और रस का व्यंजन कोई अन्य अर्थ (शब्दश्लेष द्वारा) निकलता हो।

मम्मट ने 23 प्रकार के अर्थगत दोषों का उल्लेख किया है :

(1) अपुष्ट (2) कष्ट (3) व्याहत (4) पुनरुक्त (5) दुष्क्रम (6) ग्राम्य (7) संदिग्ध (8) निर्हेतु (9) प्रसिद्धि विरुद्ध (10) विद्याविरुद्ध (11) अनवीकृत (12) सनियम परिवृत्त (13) अनियमपरिवृत्त (14) विशेष परिवृत्त (15) अविशेष परिवृत्त (16) साकांक्ष (17) अपदयुक्त (18) सहचरभिन्न (19) प्रकाशित विरुद्ध (20) विध्ययुक्त (21) अनुवादयुक्त (22) त्यक्त पुन: स्वीकृत (23) अश्लील।

● रस दोष के संबंध में मम्मट कहते हैं :

''व्यभिचारि रस स्थायिभावानां शब्द वाच्यता ।
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभाव विभावयोः ।।
प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः।
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ अङ्गस्याप्यति विस्तृतिः।।
अङ्गिनोऽननुसन्धानं प्रकृतीनां विपर्ययः ।
अनङ्गस्याभिधानं च रसे दोषाः स्युरीदृशाः।।''

[काव्यप्रकाश, सप्तम सूत्र 88 उल्लास, 60-62]

अर्थात्, रस दोष तेरह प्रकार के होते हैं :

(1) व्यभिचारी भाव, (2) रस और (3) स्थायी भावों का शब्दों द्वारा कथन, (4) अनुभाव और (5) विभाव की कष्ट कल्पना द्वारा व्यक्ति (6) प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण (7) बार-बार एक ही रस की उद्दीप्ति, (8) बिना अवसर के विस्तार या (9) विराम, (10) किसी गौण विषय का (अमुख्य विषय का) विस्तारपूर्वक वर्णन, (11) अंगी रस को भूल जाना, (12) प्रकृति अथवा पात्रों का विपर्यय (उलट-पुलट रचना) और (13) जो रस का उपकारक अंग नहीं है उसका (अनंग का) वर्णन करना– ये साक्षत रस विषयक तेरह दोष हैं।

7.3.3 प्रमुख दोषों के उदाहरण :

7.3.3.1 पदगत दोषों के उदाहरण :

1. श्रुतिकटु पद-दोष : ''कृशाङ्गी से अलिंगित होकर वह प्रेमी कब कार्तार्थ्य प्राप्त करेगा ?'' इस उदाहरण में 'कृतार्थता' के स्थान पर 'कार्तार्थ्य' शब्द श्रुतिकटु (श्रवण को– कानों को कटु) लगनेवाला है।

2. च्यतुसंस्कृति : जो व्याकरण के नियमानुकूल न हो, उस च्युतसंस्कृति दोष कहते हैं।'' सबों ने उस दृश्य को देखा'', 'सबों' के स्थान पर 'सब' होना चाहिए ।

3. अनयुक्त दोष : व्याकरण के नियमों से शुद्ध होने पर भी कवियों ने जिन शब्दों का प्रयोग न किया हो, ऐसे पदों का प्रयोग दोषयुक्त माना जाता है। कवि 'पंत' ने कई पुंलिंग शब्दों का प्रयोग स्त्रीलिंग में किया है–यहाँ अप्रयुक्त दोष है।

4. निहतार्थ दोष : किसी शब्द का अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग निहतार्थ पद-दोष कहलाता है। 'पंकज' के अनेक अर्थ होते हैं, पर उसका सर्वाधिक प्रसिद्ध अर्थ कमल है। 'कमल' अर्थ को छोड़कर सीपी या सेवार के अर्थ में इसका प्रयोग निहतार्थ पद दोष कहलाएगा ।

5. अनुचितार्थ पद दोष : काव्य-प्रसंग के विपरीत अनुचित अर्थ देनेवाले पद में यह दोष होता है।'' युद्धरूपी अश्वमेघ यज्ञ में पशुवत बलिदान किए गए वीर यशस्वी महान गति को शीघ्र ही प्राप्त कर लेते हैं।'' इस वाक्य में वीरों के साथ पशुपत बलिदान का प्रयोग अनुचित हैं। अतः, यहाँ यह दोष आ गया है।

6. निरर्थक पद दोष : यह पद दोष वहाँ होता है जहाँ छंद को पूरा करने के लिए ऐसे पद लाए जाते हैं। मैथिलीशरण गुप्त एवं 'पंत' ने अपनी-अपनी कविताओं में अनेक स्थलों पर निरर्थक पदों का प्रयोग किया है।

''यह साँझ-उषा का आंगन, आलिंगन विरह मिलन का
चिर हास-अश्रुमय आनन, रे इस मानव-जीवन का।'' (छंद)

इसमें 'रे' निरर्थक पद है। केवल पादपूर्ति के लिए ही यह आया है।

7. अवाचक पद-दोष : जो पद अर्थ की गरिमा के अनुकूल न हो "जो वीर अपनी उदारता से दूसरों की विपत्तियों का निवारण कर सकता है, सभी लोग ऐसे मनुष्य के वशवर्ती हो जाते हैं, पर, जो तुच्छ जीव क्रोध-रहित है, उसका आदर न तो मित्रों द्वारा किया जाता है और न उसके शत्रु ही उससे डरते हैं," यहाँ 'तुच्छ जीव' के स्थान पर 'अनुदार' पद होना चाहिए था।

8. असमर्थ दोष : "जिस अर्थ के बोध के लिए किसी शब्द का पाठ तो कोशादि में किया गया हो, किंतु उस अर्थ के बोध की शक्ति उस शब्द में न हो।"

9. अश्लील पद-दोष : लज्जा, घृणा और अमंगल (अशकुन) के भावों को प्रकट करने वाले शब्द।

"भोली-भाली नायिका अपना मुख गोला करके उसकी आँखों में वायु बहाने (फूँकने) लगी" यहाँ 'वायु' शब्द का अर्थ अपान वायु भी हो सकता है, जो जुगुप्साजनक (घृणा जनक) अश्लीलता का उदाहरण है।

"मंद-मंद वायु से आंदोलित, घनी, सुंदर रूपवाली मोर की पूँछ आज मेरी प्रिया के 'विनाश' (अदृश्य, लुप्त) से शत्रुहीन हो गई। यहाँ पर 'विनाश' शब्द मृत्यु अर्थ को बोधक होने के कारण यह अमंगलसूचक अश्लील है।

10. संदिग्ध दोष : द्वयर्थक शब्द होने से यह संदेह बना रहे कि किस अर्थ को ग्रहण किया जाए और किसको छोड़ा जाए, यहाँ यह 'दोष' होता है। 'वंद्या' शब्द के दो अर्थ हैं : बलात्कार से छीन सी गई महिला या प्रणाम के योग्य स्त्री। छंद में प्रयुक्त इस शब्द से कौन-सा अर्थ लिया जाय, यह निश्चित नहीं होने की स्थिति में यह 'दोष' होगा।

11. अप्रतीत पद-दोष : अप्रतीत पद एक ही शास्त्र में प्रसिद्ध होता है, अतः इस प्रकार के शब्द के प्रयोग से अर्थ की अवगति में कठिनाई होती है। योगशास्त्र में 'आशय' शब्द का अर्थ 'वासना' होता है, अतः काव्य में वासना के अर्थ में इसका प्रयोग दोषपूर्ण होगा।

12. ग्राम्य पद-दोष : सभ्य समाज से इतर समाज में प्रयुक्त होने वाले शब्द ग्राम्य होते हैं। असीय समाज के शब्दों के प्रयोग से काव्य में 'ग्राम्य पद-दोष' आ जाता है। "मैं तुम्हें इतना थुचकूँगा कि तुम अपनी सारी हेकड़ी भूल जाओगे।" इसमें 'थुचकना' ग्राम्य पद-दोष का उदाहरण है।

13. नेयार्थ पद-दोष : रूढ़ि और प्रयोजनवती लक्षणा से भिन्न लाक्षणिक शब्द नेयार्थ कहलाते हैं। ऐसे शब्दों का प्रयोग काव्य में वर्णित है।

"हे कृशाङ्गि, तुम्हारा मुख उस चंद्रमा को चपेटापातन (थप्पड़ लगाने) का पात्र बनाता है, जो शरद् ऋतु में विशेष शोभित होकर पूर्णिमा की रात्रि का प्यारा मित्र बनता है।" (काव्य प्रकाश, सप्तम उल्लास, 157 का हिंदी अनुवाद) 'चपेटापातन' से विलय करना अर्थ लक्षित होता है। परंपरा में इस तरह की लक्षणा का प्रयोग नहीं मिलता। अतः यहाँ नेयार्थ पद-दोष है।

14. क्लिष्ट पद-दोष : मम्मट कहते हैं–

"क्लिष्टं यतोऽर्थ प्रति पत्तिर्व्यवहिता" अर्थात् 'क्लिष्ट' पद उसको कहते हैं जिसकी अर्थ प्रतीति में बाधा होने के कारण कष्ट हो तथा जो विलंब से ध्यान में चढ़े।"

"हे राजन! आपका अत्रि आदि के नेत्रों से उत्पन्न पुष्पों के समान बहुत अधिक शोभित हो रहा है।" यहाँ, अत्रि के नेत्रों से उत्पन्न अर्थात्– "चंद्रमा की ज्योति (चाँदनी) के उदय से खिलनेवाले कुमुद पुष्प"–ऐसा अर्थ विलंब से ध्यान में आता है। यह कष्ट साध्य है, क्लिष्ट है।

15. अविमृष्टविधेयांश पद-दोष :

अविमृष्ट विधेयांश उस पद को कहते हैं जिसमें विधेय रूप अंश प्रधान तथा अनुक्त रह जाए, अर्थात् जहाँ पर विधेय समास के अंतर्गत छिप जाए या अप्रधान बन जाए। लक्ष्मण राम से कहते हैं : "जो क्षणभर के लिए भी अमुक्ता थीं, वैसी सीता के समाचार पाने की चिंता से आप खिन्न हो रहे हैं, इससे हम लोगों को बार-बार धिक्कार है।" यहाँ 'अमुक्ता' (सीता के लिए प्रयुक्त) नञ् समास का प्रयोग न कर "नहीं मुक्त करते थे' ऐसा कहकर निषेधवाचक 'नहीं' को ही विधेय बनाना उचित था तथा 'अमुक्ता' कहकर उसे 'नञ्' समास के अंतर्गत नहीं करना चाहिए था।

16. विरुद्धमतिकृत पद-दोष : इष्ट अर्थ के विपरीत अर्थ होने के कारण यह पद-दोष होता है।

"मैं आपका अकार्य मित्र हूँ। आपकी हमेशा मदद करने को तत्पर हूँ" इसमें 'अकार्य' शब्द के स्थान पर 'अकारण' होना चाहिए था, क्योंकि 'अकार्य' से इष्ट अर्थ से विपरीत अर्थ का बोध होता है। 'अकार्य' का अर्थ होता है– कुकर्म या अनुचित कर्म तथा 'अकारण' का अर्थ होता है– 'बिना कारण'। मित्र यहाँ अपने को कुकर्म या अनुचित कर्म का मित्र नीरे मानता, वह अपने मित्र को निस्स्वार्थ सहायता देना चाहता है।

□ उपर्युक्त सारे (पद) दोषों को वाक्य के अंतर्गत भी देखा जा सकता है। मम्मट ने 'काव्य प्रकाश' में वाक्यगत श्रुतिकटु, वाक्यगत निहतार्थ, वाक्यगत अनुचितार्थ, वाक्यगत अवाचकत्व, वाक्यगत अश्लीलता, वाक्यगत संदिग्ध दोष, वाक्यगत अप्रतीत दोष, वाक्यगत ग्राम्य दोष, वाक्यगत नेयार्थता, वाक्यगत क्लिष्टत्व, वाक्यगत अविमृष्ट विधेयांश आदि के भी उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

□ उपर्युक्त पद-दोष पद के एक मात्रा में भी हो सकता है।

7.3.3.2 वाक्यगत दोष :

निम्नलिखित वाक्य दोषपूर्ण माने जाते हैं :

● जिन वाक्यों के (काव्य-वाक्यों के) वर्ग काव्यभाव के प्रतिकूल हो :

"हे कलकंठि ! क्षण-क्षण आकंठ उत्कंठापूर्ण मुझ व्यथित को उसे शंस सदृश कंठवाली नायिका के समीप ले चलो ताकि मेरी हृदय पीड़ा दूर हो सके।" इस उदाहरण में शृंगार रस के अनुरूप वर्णों की योजना नहीं हुई है। टवर्ग के वर्ण और संयुक्त वर्ण प्रायः शृंगार रस के प्रतिकूल होते हैं।

रौद्र रस में कठोर वर्ग और लंबे-लंबे समास उपयोगी होते हैं।

□ **विसंधि दोष** : विसंधि उस 'दोष' को कहते हैं जहाँ संधि वीरूप्य (भद्दापन), अश्लीलता और उच्चारणगत कष्ट हो। हिंदी में 'विसंधि' के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। 'पंत' ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'भारत माता ग्रामवासिनी' में 'शरदेंदु' शब्द का प्रयोग किया है। यह 'विसंधि' का उदाहरण है। 'शरदिंदु' शुद्ध संधि (शरत् + इंदु) है।

□ **हतवृत्त दोष** : रस के अनुकूलन वृत्त (छंद) न होने पर हतवृत्त दोष होता है। केशवदास की रामचंद्रिका में अनेक दंद ऐसे हैं जो रसानुकूल या भावानुकूल नहीं हैं।

□ **न्यूनपद- दोष** : जिस काव्य-वाक्य में अपेक्षित पद न हो, वहाँ यह दोष होता है।

"पूर्णिमा के चाँद को देख/ शीतल हुए नैन

कुहरे में लिपटी धरती / काँपी / अज्ञात कथा मचली / मुस्काई वह।" ('माधवी परिकल') इसमें 'शरद्' शब्द होना चाहिए था। 'कुहरा' और 'काँपी' से इसकी संभावना बनती है।

☐ **अधिकपद-दोष** : जिस वाक्य में 'काव्य-वाक्य में) अनपेक्षित पद आ गया हो, वहाँ अधिकपद-दोष होता है।

''चाँद की चाँदनी लेटी थी रेत पर।'' इस वाक्य में 'चाँद' अधिक पद है, 'चाँदनी' में ही 'चाँद' शब्द गतार्थ है। ''वह स्फटिका कृति निर्मल चिन्हवाला महापुरुष मेरे ग्राम की शोभा बढ़ा रहा है।'' इस वाक्य में 'आकृति' (स्फटिक + आकृति = स्फटिकाकृति) शब्द अधिक है। 'वह स्फटिक के समान निर्मल चित्तवाला है।' यह वाक्य है। 'आकृति' शब्द की कोई आवश्यकता नहीं है।

☐ **कथित पद दोष** : एक ही काव्य में किसी शब्द की पुनरूक्ति होने पर यह दोष होता है।'' उस निर्दय के (पास) दया नाम की कोई चीज नहीं थी।'' इसमें 'दया' शब्द पुनरूक्त है। 'वह निर्दय' है अथवा 'उसमें दया नाम की चीन नहीं है' का ही प्रयोग होना चाहिए था।

☐ **पतत्प्रकर्ष दोष** : वर्णन के उत्कर्ष को घटानेवाले दोष को पतत्प्रकर्ष दोष कहते हैं।

'उसने करोड़ों खर्च किए और लाखों लुटाए।' वह पतत्प्रकर्ष दोष का उदाहरण है। होना चाहिए था उसने लाखों लुटाए और करोड़ों खर्च किए।

☐ **दूसरा उदाहरण** : ''भयंकर सुअर घर्घुर शब्द करता हुआ वन में सर्वत्र निश्शंक भाव से घूम रहा है; मतवाले हाथी चिंघाड़ते हुए कमल वनों को उजाड़ रहे हैं ; जंगली भैंसे क्रोधपूर्वक वनों के पेड़ उखाड़ रहे हैं, क्योंकि वह सिंह सिंहनी के प्रेम में फँसकर एकांत वास कर रहा है।'' यहाँ सुअर, हाथी और भैसों के चेष्टा-वर्णन में वर्ण रचना की जैसी दृढ़ता है, वैसी सिंह के वर्णन में नहीं है। इससे वर्णन की हेयता (पलत्प्रकर्षता) प्रकट हो रही है।

☐ **समाप्तपुनरात्त दोष** : समाप्त हो जाने के बाद विषय के पुनः उठाने में यह दोष होता है। जैसे, कोई शांत ज्वालामुखी पुनः भड़क जाए और अपनी विध्वंस लीला की पुनरावृत्ति करने लगे। उसकी कजरारी आँखे बाण चलाने वाली हैं, उसके बाल काले मेघों को मात करने वाले हैं; उसके ओठ बिंबाफल को परास्त करनेवाले हैं; उसकी देह की चमक बिजली की कौंध को न्यून करती है, वह कितनी सुंदर है! उसकी सुंदरता ब्रह्मा के नैपुण्य की साक्ष्य है। ''उपर्युक्त वाक्य में अंत में नायिका को सौंदर्य-वर्णन को (पुनः) नए सिरे उठाने का प्रयास है। इसलिए यहाँ 'समाप्तपुनरात्त दोष' है।

☐ **अभवन्मत संयोग दोष** : (महयोग) इष्टार्थ का संबंध यहाँ पर न हो, वहाँ यह दोष होता है।'' जहाँ मैं गया था, एक उजड़ी हुई बस्ती थी जिसके उजड़ने की साक्षी नदी उदास भाव से वह रही थी।'' इस वाक्य में 'वहाँ' पूरक विधेय रूप का अभाव है। जिससे वाक्य की अन्विति भंग होती-सी दीखती है।

☐ **अनभिहित वाच्य दोष** : अनभिहित वाच्य उस दोष को कहते हैं जहाँ पर कोई अवश्य कही जाने वाली बात छूट गई हो। जैसे– 'हे प्रिये, तुम इस दास में किस अपराध का लेश पाती हो जो उसे परित्याग करना चाहती हो ?'' इस वाक्य में 'लेश मात्र भी' होना चाहिए था।

☐ **अस्थानस्थ पद-दोष** : जिसमें कोई एक पद अपने उचित स्थान पर न हो। ''अलौकिक शरदचंद्र का सौंदर्य किसे विमोदित नहीं करता!'' यहाँ 'अलौकिक' विशेषण सौंदर्य के लिए प्रयुक्त हुआ है, अतः इसे सौंदर्य शब्द के पूर्व होना चाहिए न कि 'शरदचंद्र' के पूर्व। तब तो यह विशेषण 'शरदचंद्र' (शरत् का चंद्र) के लिए हो जाएगा जो यहाँ अभीष्ट नहीं है।

☐ **संकीर्ण दोष** : संकीर्ण वाक्य दोष वहाँ होता है जहाँ एक वाक्यांश के पद दूसरे वाक्यांश में सम्मिलित हो गए हों। दूरान्वय दोष एवं संकीर्ण दोष में सूक्ष्म अंतर यह है कि संकीर्ण दोष अनेक वाक्यों की स्थिति में होता है और दूरान्वय या क्लिष्टत्व दोष एक ही वाक्य में होता है।

☐ **गर्भित वाक्य-दोष** : जहाँ एक वाक्य के भीतर कोई दूसरा वाक्य सन्निविष्ट हो जाए, वहाँ यह दोष होता है। तुमसे "परोपकार में लगे दुष्टों की संगति मैं तुमसे कहता हूँ, कभी नहीं करनी चाहिए।" यह वाक्य इस तरह होना चाहिए : मैं तुमसे कहता हूँ कि परोपकार में लगे हुए दुष्टों की संगति कभी नहीं करनी चाहिए।

☐ **प्रसिद्धिहत दोष** : परंपरा से प्रचलित कवियों की बात से विरूद्ध कथन प्रसिद्धि हत दोष कहलाता है। जैसे : नुपूर आदि के शब्द को रणित, पक्षियों के चहचहाने को कूजित, सूरत काल में स्त्रियों के शब्दों को स्तनित या मणित, मेघ के शब्दों को गर्जित कहा जाता है। इनके प्रारंभ में भिन्न स्वरों का प्रयोग प्रसिद्धिहत दोष है।

☐ **भग्न प्रक्रम दोष** : जहाँ पर वर्ण विषय का क्रम टूट जाए, वहाँ यह दोष होता है। यह दोष प्रकृति, प्रत्यय, सर्वनाम, पर्याय, उपसर्ग, वचन, कारक तथा क्रम आदि कतिपय कारणों से संभव है।

"उसने ऐसा कहते हुए यह नहीं सोचा कि उसके आत्मीय उसके व्यवहार को किस रूप में लेंगे।" यहाँ 'उसने' सर्वनाम के साथ 'उसके' नहीं इसके सर्वनाम का ही क्रम ठीक होगा। [सर्वनाम निबंधन भग्न क्रम दोष का उदाहरण]

☐ **अक्रम दोष** : 'अक्रम' उस दोष को कहा जाता है, जहाँ क्रम विद्यमान न हो, अर्थात्– जहाँ जिस शब्द के बाद जिस उचित शब्द का प्रयोग किया जाना हो, वह शब्द वहाँ प्रयुक्त न हो।

7.3.3.3 अर्थगत दोष :

☐ **अपुष्ट दोष** : अनपेक्षित अर्थ के संयोजन से यह दोष होता हैं। "अत्यंत विस्तृत आकाशमार्ग से हनुमान लंका की ओर चले।" इसमें 'अत्यंत विस्तृत' का प्रयोग नहीं करने पर भी यथार्थ अर्थ की प्रतीति में कोई बाधा नहीं थी। अत:, यहाँ अपुष्ट नामक अर्थदोष है।

● **कष्ट (दुखदता) दोष** : जहाँ अर्थ बड़ी कठिनाई से समझ में आने योग्य हो।

"पियो अरध नीचे चलो संकट-भानैजाई।
सुचती ह्वै औ सबै ससिहिं विलोकै आई।। (विहारी)

अर्थ बड़ी कठिनाई से समझ में आता है। व्यंग्य रूप में यहाँ रूपक अलंकार प्रस्तुत है।

● **व्याहत दोष** : किसी की निंदा या स्तुति करके पुन: उसी का समर्थन या खण्डन करने में यह दोष होता है।

"मुझे आकाश की चंद्रकला से क्या प्रयोजन ! वह जहाँ है, वहाँ रहे मेरी प्रिया के मुखमण्डल की चाँदनी जनम-जन्मान्तर तक मुझे तृप्त करती रहे।" चाँदनी की उपेक्षा और प्रशंसा के कारण यहाँ व्याहत दोष है।

● **पुनरूक्त दोष** : पर्यायों की निष्प्रयोजन पुनरुक्ति में यह दोष होता है। "अश्वत्थामा ने क्रुध होकर कहा– अर्जुन! मैं अपने पिता की हत्या के दोषी श्रीकृष्ण, भीम, किरीती (अर्जुन) सबके खून, चर्बी और मांस से सारी दिशाओं को बलि प्रदान करुँगा।" यहाँ, 'अर्जुन' संबोधन के पश्चात् 'किरीटी' कहना पुनरुक्त दोष है।

● **दुष्क्रम (अनुचित क्रम) दोष** : "राजन, इस उत्सव पर मुझे एक घोड़ा दान दीजिए अथवा एक मतवाला हाथी ही सही।" यहाँ बाद में कहना चाहिए था– 'एक घोड़ा ही सही।'

● **ग्राम्य दोष** : असभ्य कथन में यह दोष होता है।

● **निर्हेतु दोष** : "हे सुंदरी ! कामदेव ने युवकों को वश में करने के लिए प्रीतिपूर्वक तुम्हारे हस्तकमल के मूल भाग में चक्र स्थापित कर दिया है।" कामदेव के चक्र का उल्लेख लोक प्रसिद्ध नहीं है।

● **अनवीकृत दोष** : बहुत कुछ कहने के बाद भी कोई नई बात न कहना। "इतने समृद्ध हो तो क्या हुआ ? इतने सुंदर हो तो क्या हुआ ? इतने बलवान हो तो क्या हुआ ? इतने दाता हो तो क्या हुआ ? ....." रिक्त स्थान में यदि होता 'कोई बड़ा काम नहीं किया'। तो कोई नई बात होती, पर यहाँ कोई नई बात नहीं कही गई है।

● **अपद युक्त दोष** : जहाँ अनावश्यक और अनुचित पदों का समावेश किया गया हो।

"जो देखने में बड़ा सुंदर है, जिसके पास अपार धन-संपदा है। जो काफी शिक्षित है, जिसमें सज्जनता कूट-कूटकर भारी है, उसके जैसा योग्य बर कहाँ मिलेगा ? भला, कहीं सब जगह सारे गुण मिलते हैं?" रेखांकित अंश में व्यंग्यरूप उत्पन्न उपेक्षा भाव में बाधा उपस्थित हो जाती है, अतः यहाँ अपदयुक्त दोष है।

7.3.3.4 रसदोष :

□ व्यक्तिवाची भाव, रस और स्थायी भावों का शब्दों द्वारा कथन रस दोष माना जाता है।

"पार्वती अपने पति (शिव) का मुख देख लजा जाती हैं, उनके परिधान को देख करुणा से भर जाती हैं, सर्व को देखकर डर जाती हैं, चंद्रमा को देखकर विस्मय करने लगती हैं, गंगाजी को देखकर ईर्ष्यां करती हैं और खप्परों को देखकर दीनता से भर उठती हैं।" यहाँ लज्जा आदि संचारी (व्यभिचारी) भावों का उनके शब्दों द्वारा कथन दोषपूर्ण है।

□ इसी तरह 'रस' और 'स्थायिभाव' के संबंध में भी सोचना चाहिए।

"युवावस्था में प्रवेश कर रही किशोरी शृंगार की तरंगों को फैला रही है।" (शृंगार रस का शब्दशः वर्णन दोषपूर्ण)

□ युद्ध क्षेत्र में शस्त्रों की झंकार सुनकर वीर पुरुष में विलक्षण उत्साह उमड़ पड़ा। (स्थायिभाव-(वीर रस का) का शब्दशः कथन)

□ **कष्ट कल्पना द्वारा अनुभाव की अभिव्यक्ति :**

"शीतल-मादक चाँदनी में वह आई
देखा प्रिय को नत चितवन मुस्काई,
देखा प्रिय ने उरस्रस्त वस्त्र प्रिया के
कच्चे दाडिम की लालसा भरी गोलाई।"
('माधवी परिमल')

उपर्युक्त काव्यांश में प्रिय के अनुभाव रोमांचादि के प्रकट होने का उल्लेख नहीं है। यह कठिनाई से बोधगम्य है।

□ **प्रकरण प्राप्त रस के विपरीत रस का उपादान दोष :**

"प्रिये, सूख रहे सब अंग मेरे/
सींचो से अपनी वचनामृत धार से/

छोड़ो मान, आओ पास, तड़प रहा तिल-तिल/
मेरी आँखों में आँखे डालो प्यार से/
जानती हो ना प्रिये, तुम इस सत्य को
हाथ से निकला कालमृग/ कभी लौटकर नहीं आता।'' ('माधवी परिमल')।

यहाँ शृंगार रस के प्रतिकूल शांत रस का विभाव समय की अनित्यता को प्रकट कर रहा है तथा निर्बेद रूप संचारी भाव भी सूचित हो रहा है। यही दोष है।

☐ **रसाभास और भावाभास** : रस या भाव की व्यंजना में किसी कारण से अनौचित्य दिख पड़ने लगे, वहाँ रसाभास और भावाभास होता है। उदाहरणार्थ–

- नायिका या नायक का उपनायक विषयक या उपनायिका विषयक अथवा बहु पुरुष या बहुनारी विषयक आसक्ति।
- उभयनिष्ठ प्रेम का अभाव।
- श्रेष्ठ का नीच के प्रति तथा नीच का श्रेष्ठ के प्रति प्रेम-वर्णन।
- पशु-पक्षी विषयक प्रेम का वर्णन।

7.3.4 दोष : गुण– पारस्परिक संबंध :

भोज दोष-गुणों को वैशेषिक गुण की संज्ञा देते हैं।

'वैशेषिकास्तु ते नूनंदोषत्वेऽपि हि ये गुणाः।'

(भोज, सरस्वती कंठाभरण)

काव्य-दोष परिस्थिति विशेष में औचित्यपूर्ण सिद्ध होते हैं, अतः उनमें गुणत्व की संभावना हो जाती है। भामह ने भी दोषों के परिहार के संबंध में लिखा है और दोषों का गुणों में परिवर्तित हो जाने की चर्चा की है। [सन्निवेश पिशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव।] –**काव्यालंकार, 1/54**

दण्डी भी कहते हैं कि सभी दोष कवि-कौशल से 'दोष' की सीमा का उल्लंघन करते हैं और 'गुण' बन जाते हैं।

विरोधः समलोऽप्येव कदाचित् कवि कौशलात्।
उत्क्रम्य दोष गणनां गुणवीथीं विगाहते।। – **काव्यादर्श, 3/179**

रुद्रट भी यही धारणा प्रकट करते हैं। ध्वनिवादी आचार्य भी श्रुतिदुष्ट आदि दोषों को अनित्य मानते हैं।

श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या मे च दर्शिताः।
ध्वन्यात्मन्येव शृंगारे ते हेया इत्युदाहृताः।। **आनंदवर्धन, ध्वन्यालोक, 2/34**

भोज ने चौबीस काव्य-दोषों का गुणत्व दिखाया है। इनके अनुसार चौबीस वैशेषिक गुण हैं।

भम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के सप्तम उल्लास में विस्तार से अर्थगत दोषों की अदोषता की परिस्थितियों का वर्णन किया है। 'रस' के संबंध में वे कहते हैं कि कहीं-कहीं संचारी (व्याभिचारी) का स्वशब्द द्वारा कथन भी दोषावह (दोषपूर्ण) नहीं होता।

दोषों के संबंध में यह भी सोचना आवश्यक है,कि क्या किसी रमणी की आँखों के काजल को देखकर पहले कालिख की याद आती है और तब पुनः यह सोचना पड़ता है कि चूँकि वह (काजल, कालिख) रमणी की आँखों में है, अतः वह उसके सौंदर्य का उपकारक ही होगा, यह (कहना-सोचना) कहाँ तक ठीक है ? परिस्थिति विशेष के औचित्य को ही गुण कहा जाए, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। काजल (कालिख) अपने में न तो गुण है और न दोष, यह परिस्थिति विशेष में गुण या दोष के रूप में ग्राह्य-अग्राह्य होता है। व्यापक अर्थ में गुण आकर्षण-क्षमता है। गुण-दोष के संबंध में कोई निश्चित वर्गीकरण हमें धोखा में डाल सकता है। गुण-दोष का निर्धारण समय-प्रसंग के विशेषत्व में होना आवश्यक है। यदि श्रुतिकटु वर्ण पहले से ही नियत कर दिए जाएँ और उन्हें पहले से ही दोषपूर्ण मान लिया जाए, तो यह न्यायतः गलत होगा। हम मूर्द्धन्य वणो को पहले से ही श्रुति कटु क्या मानें ? हम क्यों इन्हें 'श्रुति-कटु' कहें? उसी तरह 'न' वर्ण को हम क्यों 'श्रुति-मधुर' कहें, क्योंकि क्रोध में ऐसे वर्ण उच्चरित होकर हमारे चरित्र को ही लांक्षित करेंगे। क्रोध में संगीत की 'झनकार' नहीं होती, वहाँ 'खड़-खड़' होती है। वर्ण से पद, पदार्थ, वाक्य, वाक्यार्थ एवं प्रबंध तक के कथ्य औचित्य के साथ ही गुण हैं और अनौचित्य के साथ दोष।

पद, अर्थ वाक्यादि का नित्य और अनित्य के आधार पर विभेदित न कर, उन्हें प्रसंगानुकूल और प्रसंगविपरीत के रूप में विभेदित कर विवेचित किया जाना चाहिए। वे प्रसंगानुकूल हैं, तो गुण है; प्रसंगविपरीत हैं, तो दोष हैं।

□ जैसे एक ही व्यक्ति विभिन्न स्थितियों में विभिन्न प्रकार के आचरण करता है, उसी तरह एक ही वर्ण या पद विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न आचरण करता है। कहीं वह उचित होता है और कहीं अनुचित। औचित्य उसका गुण माना जाना चाहिए और अनौचित्य उसका दोष। अतः दोष-गुण का निरूपण सापेक्ष है। परिस्थिति विशेष में रस संबंधी दोष भी दोष नहीं होते, ये निर्दोष होते है; निर्दोष इस अर्थ में कि वे रस-निष्पत्ति में बाधक नहीं होते।

क्या 'दोष' हमेशा 'दोष' ही रहते हैं या किसी समय के अपने दोषत्व से मुक्त होकर 'गुण' में भी बदल जाते हैं। इस प्रश्न पर सूक्ष्म रूप से विवेचन का सूत्रपात प्रसिद्ध अलंकारवादी भामह ने किया। 'दोष' भी औचित्य के कारण गुण में बदल जाते हैं। भामह कहते हैं कि सन्निवेश विशेष के कारण दोषपूर्ण उक्ति भी उसी प्रकार शोभनीय हो जाती है जिस प्रकार माला के बीच गुंथा हुआ पलाश। असाधु वस्तु भी आश्रय के सौंदर्य से सौंदर्यपूर्ण हो जाती है, जिस प्रकार काला काजल भी कामिनी की आँखों के आश्रय से शोभावर्द्धक हो जाता है।

भामह का कहना है कि ग्राम्य से ग्राम्य शब्द भी उचित स्थान पर नियुक्त कर दिय जाने से अत्यंत सौंदर्य से भर जाते हैं। शब्दों के प्रयोग तो कवियों को अपने विवेक की कसौटी पर कसने के बाद ही करना चाहिए। कवियों को अत्यंत सावधानी से शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। माली जिस तरह बहुत सावधानी से माला का निर्माण करता है, उसी प्रकार कवि भी अपने शब्दों का बड़ी सावधानी से प्रयोग करता है। 'गण्ड' शब्द का ग्रामत्व 'पाण्डु' शब्द के साथ आने से नष्ट हो जाता है और यह एक विशेष चमत्कार से भर जाता है।

अपाण्डु गण्डमेत तू ते वदनं वनजेक्षणे
संगमात् पाण्डु शब्दस्य गण्डः साधु यथोहितम्।'' (काव्यालंकार, 1/56)

भामह उचित शब्द प्रयोग पर बल देते हैं। इनका 'उचित' प्रसंगानुकूलता ही है। पूर्व से (सामान्यत:) दोषपूर्ण समझे जाने वाले वर्ण-पद उचित स्थान एवं प्रसंग में नियोजित होने के बाद सौंदर्य (काव्य-सौंदर्य) के विनायक हो जाते है। 'गुण' औचित्यपूर्ण माने गए हैं और 'दोष' अनौचित्यपूर्ण। यदि 'दोष' को भी उचित स्थान पर रख दिया जाए, तो वह 'गुण' हो जाता है। भामद, दण्डी, वामन और मम्मट ने 'औचित्य' को ही वह आधार माना है जिसके कारण 'दोष' भी अपने दुष्टत्व से मुक्त होकर ग्रहणीय हो जाते हैं। प्राय: प्रत्येक प्रसिद्ध साहित्यशास्त्री ने दोष-परिहार पर अपना विचार प्रस्तुत किया है और 'औचित्य' को दोषमुक्ति का प्रमुख हेतु माना जाता है। मेरी दृष्टि में प्रसंगानुकूलता एवं भावानुकूलता ही औचित्य की प्रतिपादक हैं। शृंगार और शांत रस के विरोध को इनके बीच में आया अद्‌भुत रस समाप्त कर देता है। ऐसा कहकर आनंदवर्द्धन भी दोष-परिहार के लिए उद्यत दिखाई पड़ते हैं।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि–

- 'दोष' और 'गुण' एक-दूसरे के विरोधी हैं।
- 'दोष' काव्यास्वाद में बाधा प्रस्तुत करते हैं और 'गुण' काव्यास्वाद में सहयोग करते हैं।
- विशेष परिस्थितियों में कवि-कौशल के सहारे 'दोष' भी 'गुण' बन जाते हैं।
- प्रसंगानुकूल एवं भावानुकूल काव्य तत्त्वीय संयोजन ही औचित्य है और इस औचित्य के कारण दोष का परिहार हो जाता है।
- 'दोष-गुण' पारंपरिक मूल्य हैं। दोषों को गुणों में परिवर्तित करना कवि-कौशल पर निर्भर करता है और थोड़ी-सी अनवधनता के कारण प्रसिद्ध-से-प्रसिद्ध साहित्यकारों के द्वारा 'गुण' 'दोष' में परिवर्तित हो जाते हैं।
- अनवधानता-राहित्य ही कवि-विवेक है। कवि-विवेक प्रतिभा और व्युत्पत्ति का सम्यक् संतुलन है। कवि-विवेक रचना को सौंदर्यपूर्ण ग्राह्यता की ओर ले जाता है। इस सौंदर्यपूर्ण ग्राह्यता के तात्त्विक विश्लेषण से गुण और दोष के स्वरूप उभरते हैं।

7.4 सारांश

'गुण' की तरह 'दोष' भी रीति-संप्रदाय का एक महत्वपूर्ण अंग है। 'गुण-दोष' की चर्चा भरत के अनुसार 'नाट्यशास्त्र' से ही प्रारंभ हो जाती है। भरतमुनि के अनुसार 'गुण' 'दोष' का पर्याय है। अर्थात, 'दोष' को 'गुण' के पर्याय के रूप में सोचने की परंपरा बहुत पुरानी है। प्राचीन से लेकर अधुनातन काव्यशास्त्रियों ने 'दोष' को काव्य-सौंदर्य का विधातक हेतु माना है। भामह, दण्डी, उद्‌भट्ट, रुद्रट, वामन, आनंदवर्द्धन, मम्मट आदि विद्वानों ने 'दोषों' पर विस्तारपूर्वक विचार किया है और इनके परिवार के उपायों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। वस्तुत: 'दोष' रस को अपकर्षित करनेवाले तत्त्व हैं। 'दोष' उद्वेगजनक होते हैं। ये साधारणीकरण प्रक्रिया में बाधा उपस्थित करते हैं।

'दोष' हमेशा दोष ही नहीं रहते। कवि-कौशल के कारण प्रसंगानुकूल-भावानुकूल प्रयोजित होने पर ये गुण बन जाते हैं। 'काव्य-दोष' मुख्य रूप से चार प्रकार के होते हैं– पददोष, वाक्य-दोष, अर्थगत दोष एवं रस-दोष।

– प्रो० (डॉ०) गणेश प्रसाद

7.5 वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. 'दोष की चर्चा किस संप्रदाय से संबद्ध है ?
   (क) वक्रोक्ति संप्रदाय (ख) रीति-संप्रदाय (ग) रस-संप्रदाय (घ) ध्वनि-संप्रदाय
2. रीति-सिद्धांत के प्रवर्त्तक हैं :
   (क) आचार्य वामन (ख) लोल्लट (ग) अभिनवगुप्त (घ) मम्मट
3. 'दोष' के प्रमुख भेद कितने हैं ?
   (क) तीन (ख) दो (ग) चार (घ) पाँच
4. 'काव्यप्रकाश' किसकी रचना है?
   (क) रुद्रट (ख) महिमभट्ट (ग) भामह (घ) मम्मट
5. उभयनिष्ठ प्रेम का अभाव किसके अंतर्गत आता है ?
   (क) भाव शबलता (ख) रसाभास
   (ग) भावाभास (घ) उपर्युक्त किसी कथन में नहीं

उत्तर :- 1. (ख), 2. (क), 3. (ग), 4. (घ), 5. (ख)

7.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

☐ लघुउत्तरीय प्रश्न :

1. 'दोष' की परिभाषा लिखें।
2. 'दोष' के प्रमुख भेदों का उल्लेख करें।
3. पदगत दोष का परिचय दें।
4. अर्थगत दोष का परिचय दें।
5. रस-दोष किसे कहते हैं ? सोदाहरण लिखें।

☐ दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

1. 'दोष' की परिभाषा देते हुए प्रमुख भेदों को सोदाहरण लिखें।
2. 'रस-दोष' के प्रमुख भेदों को सोदाहरण लिखें।
3. किन्हीं तीन अर्थगत दोषों का परिचय दें।
4. किन्हीं चार पदगत दोषों की चर्चा करें।
5. 'वाक्यगत दोष' पर निबन्ध लिखें।
6. 'रस-दोष' के किन्हीं तीन भेदों पर प्रकाश डालें।

7.7 सहायक ग्रंथ

1. साहित्य सिद्धांत –सीताराम शास्त्री
2. काव्यकल्पद्रुम –रामदहिन मिश्र
3. काव्य प्रकाश– आचार्य मम्मट, साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
4. भारतीय काव्यशास्त्र– डॉ० शोभाकांत मिश्र
5. रसमंजरी– कन्हैयालाल पोद्दार

◆◆◆

रस का सामान्य परिचय

पाठ-संरचना

8.1 उद्देश्य
8.2 परिचय
8.3 विषय विस्तार
8.3.1 काव्य चर्चा और रस :
8.3.2 रस सिद्धांत का सैद्धांतिक विवेचन :
8.4 सारांश
8.5 लघुउत्तरीय प्रश्न और उनके उत्तर
8.6 दीर्घउत्तरीय प्रश्न और उनके उत्तर
8.7 वस्तुनिष्ठ प्रश्न
8.8 अभ्यासार्थ प्रश्न
8.9 सहायक ग्रंथ

8.1 उद्देश्य

रस एक महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय सिद्धांत है। प्रस्तुत पाठ में इस सिद्धांत के स्वरूप की विवेचन की जाएगी और उसके विभिन्न पक्षों पर विस्तार से विचार किया जाएगा। इस पाठ का मुख्य उद्देश्य है छात्रों को रससिद्धांत से परिचित कराना।

8.2 परिचय

रस सिद्धांत का सबसे पहले भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में उल्लेख हुआ है। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र (चतुर्थ शताब्दी) में रस का सैद्धांतिक विवेचन करने के साथ ही इसकी परंपरा की विनम्रतापूर्वक उल्लेख किया है। उन्होंने ब्रह्मा, द्रुहिण, सदाशिव भरत, बह्म भरत, आदि भरत, भरत वृद्ध, तण्डु, नन्दि, नंदिकेश्वर वासुकि, शौद्धोदनि, शिलालिन, कृशाश्व आदि पूर्ववर्ती रसाचार्यों एवं नाट्यचार्यों का ऋण स्वीकार किया है। उन्होंने नाट्यशास्त्र में यह भी लिखा है कि इनसे पहले रस-सिद्धान्त की दो परंपराएँ प्रचलित थीं। एक परंपरा द्रुहिण की और दूसरी परंपरा वासुकि की थी। द्रुहिण रसों की संख्या आठ मानते थे और वासुकि शांत रस को लेकर दस की संख्या नौ मानते थे। भरत मुनि ने द्रुहिण की परंपरा का अनुमोदन किया। पर, अपने ग्रंथ में उन्होंने वासुकि की परंपरा का भी यथास्थान आधार ग्रहण किया है।

"यह निर्विवाद सत्य है कि भरत से पूर्व रस-सिद्धांत की परंपरा का आविर्भाव हो चुका था, फिर भी रस-सिद्धांत का सर्वप्रथम उपलब्ध ग्रंथ भरत का नाट्यशास्त्र ही है। रस-सिद्धांत का वर्णन नाट्यशास्त्र छठवें और सातवें अध्यायों में हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भरत का रस-सिद्धांत सांगोपांग पूर्ण है और